श्री वीतरागाय नमः

श्रीमन्मानतुंगाचार्य विरचित

आदिनाथ स्तोत्र

अर्थात

भक्तामर स्तोत्र

जिसको

देवरी (सागर) निवासी श्री नाथूराम प्रेमी ने
सरल भाषा टीका और नवीन पद्यानुवाद से
विभूषित किया
और

जैन–ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय बम्बई ने
प्रकाशित किया

श्री वीर नि. सं. २४४९। जून सन् १९२३ ईसवी

भूमिका
(प्रथमावृत्ति से)

भक्तामर स्तोत्र का परिचय देने की आवश्यकता नहीं है। जैनियों में शायद ही कोई ऐसा होगा, जो भक्तामर को न जानता हो। भक्तामर और सूत्र जी का (तत्त्वार्थ का) पाठ किये बिना सैकड़ों जैनी भोजन नहीं करते। जब तक जैनी का बालक 'भक्तामर' और सूत्र जी' नहीं पढ़ लेता तब तक वह पढ़ा लिखा नहीं कहला सकता। इसी से समझ लेना चाहिए कि इस स्तोत्र का कितना माहात्म्य है और लोग इसे कितनी आदर की दृष्टि से देखते हैं; परन्तु खेद है कि जिन अपूर्व आद्वितीय गुणों के

कारण इस ग्रन्थ का इतना माहात्म्य और प्रचारबाहुल्य है, अब हमारा समाज संस्कृत विद्या के अभाव से उन गुणों के अभिज्ञान से वंचित होता जाता है। वह यह नहीं जानता है कि इसमें कौना सा अमृत भरा हुआ है, जिसे पान करके भिन्न धर्मी पण्डितगण भी बारम्बार शिर: संचालन करते हैं और मुग्ध हो जाते हैं। संस्कृतानभिज्ञ लोगों को उसी अपूर्व अमृत का आस्वादन कराने के लिए हमने यह ग्रन्थ तैयार किया है।

देववाणी संस्कृत के पाठ से जो रसास्वाद तथा आनन्दानुभव होता है, वह हिन्दी भाषा के अनुवाद में ला देना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य ही है। तो भी हम से जहाँ तक बना है, इस बात का प्रयत्न किया है कि, मूल के किसी भी पद का भाव न रह जावे। हम समझते हैं कि हमारी इस टीका तथा अनुवाद से भाषा–रसिकजन उस आनन्द के बहुत कुछ अंशों का अनुभव करने में समर्थ हो सकेंगे, जिसके अपभोग के अधिकारी केवल संस्कृतज्ञ जन ही समझे जाते हैं।[1] जहाँ तक हमें मालूम है, इस पुण्य स्तोत्र की अभी तक कोई भी ऐसी टीका प्रकाशित नहीं हुई थी, जिससे विद्यार्थी तथा सर्वसाधारणजन इसके मर्म को समझ सकें और शायद ऐसी कोई टीका बनी भी नहीं है, जो वर्तमान समय के अनुसार सर्वप्रिय और सर्वोपयोगी हो। गुजराती अनुवाद के साथ एक सज्जन ने इसका हिन्दी अर्थ छपवाया था; परन्तु वह केवल भावार्थ था, उसे टीका नहीं कह सकते। इसी त्रुटि की पूर्त्ति के लिए हमने यह प्रयत्न किया है। इसमें हम कितनी सफलता प्राप्त कर सके हैं, इसका उत्तर हमारे चतुर विद्वान् पाठक दे सकेंगे। एक बात पद्यानुवाद उपस्थित या तब इसकी क्या आवश्यकता थी? यदि कोई सज्जन यहाँ शंका करें, तो उसके उत्तर में हम उन्हें श्री अमितगत्याचार्य का यह श्लोक स्मरण कराते हैं–

कृति: पुराण सुखदा न नूतना
न भाषणीय वचनं बुधैरिदम्।
भवन्ति भव्यानि फलानि भूरिशो
न भूरुहां किं प्रसवप्रसूतित:।। –धर्मपरीक्षा

अर्थात 'प्राचीन कविता ही सुखदायक होती है, नवीन नहीं' बुद्धिमानों को यह वचन नहीं कहना चाहिए। वृक्षों को प्रतिवषग नये–नये फल आते हैं, तो क्या वह पहले वर्षों के फले–सरीखे श्रेष्ठ और मिष्ट नहीं होते?

सुनते हैं कि भक्तामर स्तोत्र के कई पद्यानुवाद हो चुके हैं; परन्तु हमें सिवाय हेमराज जी के दूसरा कोई अनुवाद देखने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ। प्राय: सब जगह इसी का प्रचार अधिक है। दूसरे अनुवाद अप्रसिद्ध हैं और शायद अच्छे भी नहीं हैं। इसमें सन्देह नहीं कि, हेमराज जी का अनुवाद बहुत सुन्दर प्रसाद गण–आयुक्त और श्रेष्ठ है, परन्तु वह एक स्वतन्त्र अनुवाद है, उसमें

---

[1] यथार्थ में इस स्तोत्र का नाम आदिनाथ स्तोत्र है। परन्तु इसके प्रारम्भ में 'भक्तामर प्रणतमौलिमणिप्रभाणाम्' इस पाद में भक्तामर ऐसा पद आने से इसका भक्ताम्बर स्तोत्र नाम प्रचलित हो गया है। अन्यायन्य ग्रन्थों में भी ऐसा देखा जाता है। सूक्तिमुक्तावली 'सिन्दुरप्रकर' के नाम से और पार्श्वनाथ स्तोत्र 'कल्याणमन्दिर' के नाम से प्रसिद्ध है। इसी प्रकार एकीभाव स्तोत्र वगैरह भी प्रसिद्ध हैं। इन सब ग्रन्थों के नाम प्रारम्भ के पद के कारण ही पड़े हैं।

भावमात्र ग्रहण किया गया है। प्रत्येक पद तथा शब्द की ओर अनुवादक महाशय ने लक्ष्य नहीं किया है।

उदाहरण के लिए सैंतीसवें श्लोक का अनुवाद देखिए—

ऐसी महिमा तुमविषैं, और धरै नहिं कोय।।
सूरज मैं जो जोति है, तारन में नहिं सोय।।३७।।

हेमराज जी के अनुवाद के विषय में हम एक बात और भी कहना चाहते हैं, इस अनुवाद के लिए चौपाई छनद यथेष्ट नहीं है। छनद की कर्मा अनेक के कारण अनुवाद अनेक स्थानों में क्लिष्ट और भावच्युत हो गया है। अर्थ भी कहीं—कहीं कठिनता से होता है। जैसे—

तुम गुनमहिमा हत—दुखदोष
सो तो दूर रहो सुखपोष।
पापविनाशक है तुम नाम
कमल विकासै ज्यो रविधाम।।९।।

इसमें मूल का वह भाव नहीं आ पाया, जो सबसे अधिक आनन्द जनक था। यहाँ हमारा आशय हेमराज जी के ग्रन्थ की निन्दा करने का नहीं है; किन्तु यह प्रकट करने का है कि उनका अनुवाद उत्तम होने पर भी त्रुटि रहित नहीं है।

इन सब कारणों से हमारा बहुत दिनों से विचार था कि एक ऐसा अनुवाद किया जावे, जो सर्वथा मूल का प्रतिरूप हो, साथ ही सरल, सुखपाठय और शीघ्रार्थबोधक भी हो। हर्ष की बात है कि आज उस विचार को हम कार्य में परिणत करने को समर्थ हुए हैं। यद्यपि हमने इसे सरल बनाने के लिए शक्ति भर प्रयत्न किया है; परन्तु संस्कृत के भाव ही कुछ ऐसे कठिन होते हैं कि परिश्रम करने पर भी हमारे अनुवाद में कई जगह कठिन्य आ गया है। पाठक इस अपराध के लिए हमें क्षमा करेंगे।

कविता कुछ हमारी ऐसी प्रसाद जनक नहीं है, जिसके लिए हमें अपने इस अनुवाद का गर्व हो और पाठकों से आग्रह हो कि वे इसे पढ़ें ही। हमारा उद्देश्य केवल मूल के सम्पूर्ण भावों को स्पष्ट करने का है और उसकी के लिए हमारा सदप्रयत्न है। जो पाठक इसके अभिलाषी होंगे, उन्हें ही हमारा यह परिश्रम रुचिकर होगा, दूसरों को नहीं।

इस ग्रन्थ का शोधन अवलोकन करके हमने जिन—जिन पण्डित मित्रों ने हमे आभारी किया है, उन्हें हम अनेकानेक धन्यवाद देकर इस प्रस्तावना का सम्पादन करते हैं।

विद्वानों का सेवक
—नाथूराम प्रेमी

देवरी (सागर),
ता. ११—५—१९०७

छठी आवृत्ति की सूचना

अब की बार कई सज्जनों की प्रेरणा से अन्त में हमने अपने 'वषापहार' स्तोत्र को भी लगा दिया है। यह महाकवि धनंजय के संस्कृत स्तोत्र का अनुवाद है।

नमो वीतरागाय

श्रीमन्मानतुंगसूरि विरचित

आदिनाथ स्तोत्र

भाषा टीका तथा पद्यानुवाद सहित

वसन्ततिलंका वृत्तम्

भक्तामरप्रणतमौलिमणिप्रभाणा–
मुद्द्योतकं दलितपापतमोवितानम्।
सम्यक्प्रणम्य जिनपादयुगं युगादा–
वालम्बनं भवजले[२] पततां जनानाम्।१।।

यः संस्तुतः[३] सकलाद्यंयतत्त्वबोधा–
दुद्भूतबुद्धिपटुभिः सुरलोकनाथैः।
स्तोत्रैर्जगत्रितयचित्तहरैरुदारैः
स्तोष्ये किलाहमपि तं प्रथमं जिनेन्द्रम।।२।।
(युग्मम्)

जो सुरन के नत–मुकुटमनि की, प्रभा को परकासते।
पुनि पापरूपी प्रबल अतिशय, तिमिरपुंज विनासते।।
अरु जो परे भवजल, दियो, अवलम्बन तिनहिं युगादि में।
जिनदेव के तिन चरनजुग को, नमन करके आदि में– ।१।।

---

[2] 'भवनिधौ' ऐसा भी पाठ है।

[3] संस्कृत में कहीं–कहीं एक से अधिक अनेक श्लोकों को इकट्ठा अन्वय होता है। जहाँ दो श्लोकों का एकत्र अन्वय हो, वहाँ उसे युग्म कहते हैं। यहाँ भी युग्म है।

मैं शक्तिबिन हू करहुं थुति, अचरज बड़ो सुखकारिनी।
तिन प्रथम जिन की परमपावन, अरु अवोदधितारिनी।।
जिन की त्रिजगजनमनहरन वर, विशद विरद सुहाई है।
हरि[४] ने सकलश्रुततत्त्व–बोध–प्रसूत–बुधिसों[५] गाइ है।।२।।

अन्वयार्थ– (भक्तामरप्रणतमौलिमणिप्रभाणाम्) भक्तिमान् देवों के झुके हुए मुकुटों की जो मणियाँ हैं, उन की प्रभा को (उद्योतकं) प्रकाशित करनेवाले[६], (दलितपापतमोवितानं) पापरूपी अन्धकार के समूह को नष्ट करनेवाले और (भवजले) संसार समुद्र में (पततां) पड़ते हुए (जनानां) मनुष्यों को (युगादौ) युग की अर्थात् चौथेकाल की आदि में (आलम्बनं) सहारा देनेवाले, (जिनपादयुगं) श्री जिनदेव के चरणयुगलों को (सम्यक्) भलीभाँति (प्रणम्य) प्रणाम करके।१।। (सकलवाङ्मयतत्त्वबोधात्) सम्पूर्ण द्वादशांगरूप जिनवाणी का रहस्य जानने से (उद्भूतबुद्धिपटुभिः) उत्पन्न हुई जो बुद्धि, उससे प्रवीण ऐसे (सुरेलोकनाथैः) देवलोक के स्वामी इन्द्रों ने (तगत्रितयचित्तहरैः) तीन जगत के चित्त हरण करनेवाले (उदारैः) महान् (स्तोत्रैः) स्तोत्रों के द्वारा (यः संस्तुतः) जिस की स्तुति की, (तं) उस (प्रथमं जिनेन्द्रं) प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदे का (किल) आश्चर्य[७] है कि (अहम् अपि) मैं भी (स्तोष्ये) स्तवन करता हूँ।

भावार्थ– जिसकी स्तुति द्वादशांग वाणी के ज्ञाता इन्द्रों ने बड़े–बड़े विशाल स्तोत्रों के द्वारा की है, उसी आदिनाथ भगवान् का मैं स्तोत्र करना प्राम्भ करता हूँ, ह बड़ा आश्चर्य है।१।२।।

बुद्धया विनापि विबुधार्चितपादपीठ[८]
स्तोतु समुद्यतमतिर्विगतत्रपोऽहम्।
बालं विहाय जलसंस्थितमिन्दुबिम्ब–
मन्यः क इच्छति जनः सहसा ग्रहीतुम्।।३।।

हे अमरपूजितपद तिहारी, थुति[९] करने के काज मैं।
बुधिबिना ही अति ढीट बनिके, भयउ उद्यत आज मैं।।
जल में परयौ प्रतिबिम्ब शशि कौ, देख सहसा चावसों।
तजिकै शिशुन[१०] कों सुजन जन, गहन चाहै भावसों[११]।।३।।

---

4 इन्द्र ने।
5 सम्पूर्ण द्वादशांग से उत्पन्न हुई चतुरबुद्धि के द्वारा।
6 अर्थात् देवों के मुकुट आप के चरणों की प्रभा से और भी अधिक दीप्तिमान होते हैं।
7 'किल' शब्द का यह अभिप्राय श्री प्रभाचन्द्राचार्य की संस्कृत टीका से ग्रहण किया गया है।
8 'विबुधार्चितपादपीठम्' ऐसा भी पाठ है।
9 स्तुति।
10 बालकों को।
11 वस्तुपने से।

अन्वयार्थ— (विबुधार्चितपादपीठ) देवों ने जिसके सिंहासन की पूजा की है, ऐसे हे जिनेन्द्र! (बुद्धया बिना) बुद्धि के बिना (अपि) ही (विगतत्रप:) लज्जारहित जो (अहम्) मैं (स्तोतुं) आपका स्तवन करने को (समुद्यतमति:) उद्यतमति हुआ हूँ, अर्थात् तत्पर हुआ हूँ, सो ठीक है। क्योंकि (बालं विहाय) बालक के सिवाय (अन्य:) अन्य (क:) कौन (जन:) मनुष्य ऐसा है, जो (जलसंस्थितम्) जल में दिखाई देने वाले (इन्दुबिम्बं) चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब को (सहसा) एकाएक (ग्रहीतुम) पकड़ने के लिए (इच्छति) इच्छा करता है?

भावार्थ— जैसे मूर्ख बालक जल में पड़ी हुई चन्द्रमा की छाया को पकड़ना चाहता है, उसी प्रकार मैं भी आपका स्तोत्र करने के लिए तैयार हुआ हूँ, जो कि अतिशय कठिन है।।३।।

वक्तुं गुंणान् गुणसमुद्र शशांककान्तान्
कस्ते क्षम: सुरगरुप्रतिमोऽपि बुद्धया।
कल्पान्तकालपवनोद्धतनक्रचक्रं
को वा तरीतुमलमम्बुनिधिं भुजाभ्याम्।।४।।

हे गुणनिधे, शशिसम समुज्जवल, कहन तुम गुनगन कथा।
सुरगुरुन[१२] के सम हू गुनीजन, हैं न समरथ सर्वथा।
जामें प्रलय के पवन सों, उछरत प्रबल[१३] जलजन्तु हैं।
तिस जलधिकहँ निज भुजन सों तिर सकैं को बलवन्तु हैं।।४।।

अन्वयार्थ— (गुणसमुद्र) हे गुणों के समुद्र (ते) तुम्हारे (शशांककन्तान्) चन्द्रमा की कान्ति जैसे उज्जवल (गुणान्) गुणों के (वक्तुं) कहने को (बुद्धया) बुद्धि से (सुरगुरुप्रतिम: अपि) इन्द्र के समान भी (क:) कौन पुरुष ऐसा है जो (क्षम:) समर्थ हो? क्योंकि (कल्पान्तकालपवोनद्धतनक्रचक्रं) प्रलयकाल की आँधी से उछलते हैं मगर मच्छों के समूह जिसमें, ऐसे (अम्बुनिधिं) समुद्र को (भुजाभ्याम्) भुजाओं से (तरीतुम्) तैरने को (को वा) कौन पुरुष (अलम्) समर्थ हो सकता है? कोई भी नहीं।

भावार्थ— जैसे प्रलयकाल के भयानक दुस्तर समुद्र को कोई भुजाओं से नहीं तैर सकता है, उसी प्रकार मैं भी अपनके गुणों का वर्णन करने में असमर्थ हूँ।।४।।

सोऽहं तथापि तव भक्तिवशान्मुनीश
कर्तुं स्तवं विगतशक्तिरपि प्रवृत्त:।
प्रीत्यात्मवीर्यमविचार्य मृगो मृगेन्द्रं
नाऽभ्येति किं निजशिशो: परिपालनार्थम्।।

---

[12] इन्द्र के समान बुद्धिमान।
[13] मगरमच्छ आदि जलचर जीव।

मुनिनाथ, मैं उद्यत भयउ जो, विरद[१४] पावन गान कों।
सो एक तुव पदभक्ति के वश, भूलि निजवलज्ञान कों।।
ज्यों प्रीतिवश, निजबल विचारे विन, स्ववत्स[१५] बचाइवे।
अतिदीन हरिनी सिंह के, डरपै न सनमुख जाइवे।।५।।

अन्वयार्थ— (मुनीश) हे मुनियों के ईश्वर, मैं स्तोत्र करने में असमर्थ हूँ, (तथापि) तो भी (तब भक्तिवशात्) तुम्हारी भक्ति के वश से (विगतशक्तिः) शक्तिरहित (अपि) भी (सः अहं) वह बुद्धिहीन मैं (स्तवं कर्तुं) आपका स्तवन करने के लिए (प्रवृत्तः) प्रवृत्त हुआ हूँ। सो ठीक ही है, क्योंकि (मृगः) हरिण (प्रीत्या) प्रीति के वश से (आत्मवीर्यं) अपने पराक्रम को (अविचार्य) बिना विचारे ही (निजशिशोः) अपने बच्चे की (परिपालनार्थम्) रक्षा के अर्थ (किं) क्या (मृगेन्द्रं) सिंह को (न अभ्येति) नहीं प्राप्त होता है? अर्थात् उसके सम्मुख लड़ने के लिए क्या नहीं दौड़ता है?

भावार्थ— जैसे हरिण अपने बच्चे को सिंह के पंजे में फँसा देखकर उसकी प्रीति के वश से यद्यपि सिंह को जीत नहीं सकता है, तो भी सामने लड़ने को दौड़ता है, उसी प्रकार मुझ में शक्ति नहीं है, तो भी भक्ति के वश से आपका स्तोत्र करने के लिए तत्पर होता हूँ। अर्थात् इस स्तोत्र के करने में आपकी भक्ति ही कारण है, मेरी शक्ति या प्रतिभा नहीं।।५।।

अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहासधाम
त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम्।
यत्कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति
तच्चारुचूतकलिकानिकरैकहेतुः।।६।।

अल्पज्ञ अरु ज्ञानीजनन के, हास को सुनिवास मैं।
तुव भक्ति ही मुहि करत चंचल इस पुनीत—प्रयास में।।
मधुमास में जो मधुर गायन, करत कोइल प्रेम सों।
सो नव रसालन की ललित कलिकानिक वश नेम सों।।६।।

अन्वयार्थ— (अल्पश्रुतं) थोड़ा है शास्त्रज्ञान जिसको ऐसे, और (श्रुतवतां) शास्त्र के ज्ञाता पुरुषों के (परिहासधाम) हँसी के स्थान ऐसे (माम्) मुझको (त्वद्भक्तिः) तुम्हारी भक्ति (एव) ही (बलात्) बलपूर्वक (मुखरीकुरुते) वाचाल करती है। क्योंकि (कोकिलः) कोयल (किल) निश्चय से (मधौ) बसन्त[१६] ऋतु में (यत्) जो (मधुरं विरौति) मधुर शब्द करती है, (तत् चारुचूतकलिकानिकरैकहेतुः) सो उसमें सुन्दर आम्रवृक्षों के मौर का (मंजरी का) समूह ही एक कारण है।

---

[14] स्तोत्र अथवा स्तुति।
[15] अपने बच्चे के।
[16] चैत और बैशाख ये दो महीने बसन्त ऋतु के हैं।

भावार्थ— कोयल की यदि स्वयं बोलने की शक्ति होती, तो वह वसन्त ऋतु के सिवाय दूसरी ऋतुओं में भी बोलती। परन्तु वह, जब बसन्त में आमों के मौर आते हैं, तब ही मीठी वाणी बोलती है। इससे सिद्ध है कि, उसके बोलने में एक मौर ही कारण है। इसीप्रकार मुझमें स्वयं शक्ति नहीं है, परन्तु आपकी भक्ति मुझे स्तोत्र करने के लिए चंचल करती है। इससे इस स्तोत्र की रचना में आपकी भक्ति ही एक कारण है।।६।।

त्वत्संस्तवेन भवसन्ततिसन्निबद्धं
पापं क्षणात्क्षयमुपैति शरीरभाजाम्।
आक्रान्तलोकमलिनीलमशेषमाशु
सूर्यांशुभिन्नमिव शार्वरमन्धकारम्।।७।।

जगवासियों के पाप भवभव के जुड़े छोटे बड़े।
तुव विरद गायें, होंहिं छय छिन में जिनेश, खड़े खड़े।।
ज्यों जगतव्यापी भ्रमरसम तम, नीलतम[१७] निशिसमय को।
ततकाल ही दिनकराकिरनसों, प्राप्त होवहि विलय को।।७।।

अन्वयार्थ— (आक्रान्तलोकम्) जिसने लोक को ढक लिया है और जो (अलिनीलम्[१८]) भ्रमर के समान काला है, ऐसे (शार्वरम्) रात्रि के (अशेषम्) सम्पूर्ण (अन्धकारम्) अंधकार को (आशु) शीघ्रता से (सूर्यांशुभिन्नम् इव) जैसे सूय्र की किरणें नष्ट कर देती हैं, उसी प्रकार हे भगवान्! (त्वत्संस्तवेन) तुम्हारे स्तवन से (शरीरभाजाम्) जीवधारियों का (भवसन्ततिसन्निबद्धं) जन्म जरामरणरूप संसार परम्परा से बँधा हुआ (पापं) पाप (क्षणात्) क्षण भर में (क्षयम्) नाश को (उपैति) प्राप्त होता है।

भावार्थ— जैसे अंधकार को सूर्य मिटा देता है, उसी प्रकार आपके स्तोत्र से जीवों के पाप क्षय हो जाते हैं।।७।।

मत्वेति नाथ तव संस्तवनं मयेद
मारभ्यते तनुधियाऽपि तव[१९] प्रभावात्।
चेतो हरिष्यति सतां नलिनीदलेषु
मुक्ताफलद्युतिमुपैति ननूदबिन्दुः।।८।।

जिनराज अस जिय जानिकै, यह आपकी विरादवली[२०]।

---

[17] अत्यन्त नीला (काला)।
[18] कहीं—कहीं नीले रंग में काले का उपचार किया जाता है।
[19] 'तब प्रसादात्' भी पाठ है।
[20] स्तोत्रमाला।

थोरी समझ मेरी तऊ, प्रारम्भ करत उतावली।।
हरिहै सुमन सो सज्जन के, प्रभु[२१]—प्रभूत—प्रभावसों।
जलबिन्दु जैसे जलजदल परि, दिपत मुकताभाव सों।।८।।

अन्वयार्थ— (नाथ) हे नाथ, (इति मत्वा) इसप्रकार पाप का नाश करनेवाला मानकर (तनुधिया अपि मया) थोड़ी सी बुद्धिवाला हूँ, तो भी मेरे द्वारा (इदम्) यह (तव) तुम्हारा (संस्तवनं) स्तोत्र (आरभ्यते) आरम्भ किया जाता है। सो (तब) तुम्हारे (प्रभावात्) प्रभाव से (सतां) सज्जन[२२] पुरुषों के (चेत:) चित्त को (हरिष्यति) हरण करेगा। जैसे कि (नलिनीदलेषु) कमलिनी के पत्तों पर (उदबिन्दु:) पानी का बिन्दु (ननु) निश्चय से (मुक्ताफलद्युतिम्) मुक्ताफल की शोभा को (उपैति) प्राप्त होता है।

भावार्थ— जैसे कमलिनी के पत्तों पर साधारण जल के बिन्दु भी उन पत्तों के प्रभाव से मोती सरीखे जान पड़ते हैं, उसी प्रकार यह स्तोत्र यद्यपि अच्छा नहीं है, परन्तु आपके प्रभाव से सज्जनों के चित्त को अवश्य हरेगा, अर्थात् उत्कृष्ट काव्यों की श्रेणी में गिना जावेगा।।८।।

आस्तां तव स्तवनमस्तसमस्तदोषं
त्वत्संकथापि जगतां दुरितानि हन्ति।
छूरे सहस्रकिरण: कुरुते प्रभैव
पद्माकरेषु जलजानि विकासमाञ्जि।।९।।

सब दोषरहित जिनेश तेरो, विरद तो दूरहि रहै।
तुम कथा ही इस जगत के सब, पापपुंजन को दहै।।
सूरज रहत है दूर ही, पै तासु की किरनावली।
सरवरन[२३] में परि करत है, प्रमुदित सकल कुमुदावली।।९।।

अन्वयार्थ— जैसे (सहस्रकिरण:) सूर्य तो (दूरे) दूर ही रहो, (प्रभा एव) उसकी प्रभा ही (पद्माकरेषु) तालाबों में (जलजानि) कमलों को (विकाशभाञ्जि) प्रकाशमान (कुरुते) कर देती है, उसी प्रकार हे जिनेन्द्र, (अस्तसमस्तदोषं) असत हो गये हैं, समसत दोष जिसके अर्थात् दोषरहित ऐसा (तव) तुम्हारा (स्तवनं दूरे आस्तां) स्तोत्र तो दूर ही रहे, (त्वत्संकथा अपि) चर्चा ही, अथवा तुम्हारी इस भव तथा परभवसम्बन्धी उत्तम कथा ही (जगतां) जगत के जीवों के (दुरितानि) पापों को (हन्ति) नाश करती है।

भावार्थ— सूर्य के उदय से पहले जो उसकी प्रभा फेलती है, उससे ही जब कमल खिल उठते हैं, तब सूर्य के स्तोत्र से कमल खिलेंगे, इसमें तो कहना ही क्या है। इसी प्रकार आपकी चर्चा

---

[21] आपके प्रभाव से।

[22] दुर्जनों को तो अच्छे से अच्छा भी काव्य बुरा लगता है, इसलिए यहाँ सज्जन विशेषण दिया है।

[23] तालाबों के बीच में पड़कर।

मात्र से ही जब पाप नष्ट हो जाते हैं, तब आपके स्तोत्र से तो होवेंगे ही। इसमें कुछ सन्देह नहीं है। सारांश यह कि आपका यह स्तोत्र पापों का नाश करनेवाला होगा।।९।।

नात्यद्भुतं[२४] भुवनभूषणभूत नाथ
भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा
भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति।।१०।।

हे भुवनभूषनरूप प्रभु, इसमें न कछु अचरज रहा।
जो सत्यगुनगायक[२५] तिहारे, होंहिं तुव सम नर महा।।
स्वाश्रित जनन को स्वामि जो, अपनी प्रभूत विभूति सों।
नहिं करत आप समान, ताकी, कहा बहु करतूतिसों।।१०।।

अन्वयार्थ— (भुवनभूषणभूत[२६]) हे जगत के भूषणरूप भगवन् (भुवि) संसार में (भूतैः गुणैः) सत्य तथा समीचन गुणों करके (भवन्तम्) आपको ही (तुल्याः) समान (भवन्ति होते हैं। सो इस में (अति अद्भुतं न) अधिक आश्चर्य नहीं है। (ननु) क्योंकि (नाथ) हे नाथ, (यः) जो कोई स्वामी (इह) इस लोक में (आश्रितं) अपने आश्रित पुरुष को (भूत्या) विभूति करके (आत्मसमं) अपने समान (न करोति) नहीं करता है (तेन) उस स्वामी से (किं वा) क्या लाभ?

भावार्थ— हे भगवन्, जिस प्रकार उदार स्वामी का सेवक कालान्तर में धनादि से सहायता पा करके अपने स्वामी के समान धनवान् हो जाता है, उसी प्रकार मैं भी आपका स्तवन करके आपके समान तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन कर सकता हूँ।।१०।।

दृष्ट्वा भवन्तमनिमेषविलोकनीयं
नान्यत्र तोषमुपयाति जनस्य चक्षुः।
पीत्वा पयः शशिकरद्युतिदुग्धसिन्धोः
क्षारं जलं जलनिधेरसितुं क इच्छेत्।।११।।

अनिमेष[२७] नित्य विलोकनीय, जिनेश तुमहिं विलोक के।
पुनि और ठौर न तोष पावहिं, जननयन इस लोक के।।
शशिप्रभा[२८] के सम नीर पीकर, छीरनिधि को पावनो।
को पियन चाहत सरितपति[२९] को, खारजल असुहावनो।।

---

[24] 'अत्यद्भुतं' भी पाठ है, जो 'भवन्तम्' का विशेषण होता है।
[25] भक्तजन।
[26] कोई कोई 'भुवनभूषण' और 'भूतनाथ' ऐसे दो सम्बोधन करके ''हे भुवन के भूषण'' और ''हे जीवों के नाथ'' अर्थ करते हैं।
[27] टिमकार रहित नेत्रों से।
[28] चन्द्रमा की प्रभा के समान उज्जवल।

अन्वयार्थ— हे भगवन्, (अनिमेषविलोकनीयं) अनिमेष अर्थात् टिमकार रहित नेत्रों से सदा देखने योग्य (भवन्तम्) आपको (दृष्ट्वा) देखकर के (जनस्य) मनुष्यों के (चक्षु:) नेत्र (अन्यत्र) दूसरों में अर्थात् और–और देवों में (तोषम्) संतोष को (न उपयाति) नहीं प्राप्त होते हैं।[३०] सो ठीक ही है। क्योंकि (शशिकरद्युतिदुग्धसिन्धो:) चन्द्रमा की किरणों के समान उज्जवल है शोभा जिसकी, ऐसे क्षीरसमुद्र के (पय:) जल को (पीत्वा) पी करके (क:) ऐसा कौन पुरुष है, जो (जलनिधे:) समुद्र के (क्षारं जलं) खारे पानी को (असितुं) पीने की (इच्छेत्) इच्छा करता है?

भावार्थ– जैसे क्षीरसमुद्र के जल को पीनेवाला फिर खारा पानी पीने की इच्छा नहीं करता है, उसी प्रकार जो आपके दर्शन कर लेता है, उसे फिर दूसरे देवों के देखने से संतोष नहीं होता।१२।।

यै: शान्तरागरुचिभि: परमाणुभिस्त्वं
निर्मापितस्त्रिभुवनैकललामभूत।
तावन्त एव खलु तेऽप्यणव: पृथिव्यां
यत्ते समानमपरं न हि रूपमस्ति।१२।।

त्रिभुवनशिरोभूषण, अनूपम, शान्तभावनसों भरे।
जिन रुचिर[३१] शुचि[३२] परमानुवनसों, आप वनिकै अवतरे।।
ते अनु हते जग में तिते ही, जानि मुहि ऐसी परै।
जातैं[३३] अपूरव आप जैसो, रूप नहिं कहुँ लखि परै।।१२।।

अन्वयार्थ— (त्रिभुवनकललामभूत[३४]) हे तीन लोक के एक शिरोभूषणभूत (यै:) जिन (शान्तरागरुचिभि:) शान्त भावों के छायारूप (परमाणुभि:) परमाणुओं से (त्वं) तुम (निर्मापित:) बनाये गये हो, (खलु) निश्चय करके (ते) वे (अणव:) परमाणु (अपि) भी (तावन्त एव) उतने ही थे (यत्) क्योंकि (ते समानम्) तुम्हारे समान (रूपम्) रूप (पृथिव्यां) पृथिवी में (अपरं) दूसरा (न हि) नहीं (अस्ति) है।

भावार्थ— हे भगवान् आपके शरीर की रचना जिन पुद्गल परमाणुओं से हुई है, वे परमाणु संसार में उतने ही थे। क्योंकि यदि वे परमाणु अधिक होते, तो आप जैसा रूप औरों का भी दिखलाई देता। परन्तु यथार्थ में आपके समान रूपवान पृथिवी में कोई दूसरा नहीं है।१२।।

---

29 समुद्र का।
30 यद्यपि चक्षु: पद और उपयाति क्रिया दोनों एकवचन हैं, परन्तु जाति की अपेक्षा होने से यहाँ बहुवचन में अर्थ किया गया है।
31 सुन्दर।
32 पवित्र।
33 क्योंकि (हेतु)।
34 'शिर:पुरोन्यस्तमस्तकाभरणं ललाममुच्यते।' सिर के आगे मस्तक के आभरण को ललाम कहते हैं।

वक्त्रं क्व ते सुरनरोरगनेत्रहारि
नि:शेषनिर्जितजगत्रितयोपमानम्।
बिम्बं कलंकमलिनं क्व निशाकरस्य
यद्वासरे भवति पाण्डुपलाशकल्पम्।१३।।

कहँ सुरउरगनरनयन आनन्द, करन तुव मुखचंद है।
तिहुँलोक उपमावृन्द जिहिंके, होत सनमुख मंद है।।
अरु कहाँ शशिकौ मलिन बिम्ब, कलंकवारौ दाससौ।
जो होत दिन के होत ही, छविहीन श्वेत पलाससौ[३५]।।१३।।

अन्वयार्थ— हे नाथ, (सुरनरोरगनेत्रहारि) देव; मनुष्य और नागों के नेत्रों को हरन करनेवाला तथा (नि:शेषनिर्जितजगत्रितयोपमानम्) जीती हैं तीन लोक के कमल, चन्द्रमा, दर्पण आदि सब ही उपमाएँ जिसने ऐसा (क्व) कहाँ तो (ते) तुम्हारा (वक्त्रं) मुख और (क्व) कहाँ (निशाकरस्य) चन्द्रमा का (कलंकमलिनं) कलंक से मलिन रहनेवाला (बिम्ब) मण्डल, (यत्) जो कि (वासरे) दिन में (पाण्डुपलाशकलपम्) पलाश के अर्थात् ढाक के पत्ते के समान सफेद (भवति) होता है।

भावार्थ— आपके सदा प्रकाशमान निष्कलंक मुख को चन्द्रमा की उपमा नहीं दी जा सकती है। क्योंकि चन्द्र कलंकी है और दिन को ढाक के पत्ते जैसा प्रभाहीन हो जाता है।।१३।।

सम्पूर्णमण्डलशशांककलाकलाप—
शुभ्रा गुणास्त्रिभुवनं तव लंघयन्ति।
ये संश्रितास्त्रिजगदीश्वर नाथमेकं
कस्तान्निवारयति संचरतो यथेष्टम्।१४।।

हे त्रिजगपति, पूरन निशापति की कला ज्यों ऊजरे।
गुनगन तिहारे विमल अतिशय, भुवन तीनहु में भरे।।
जे परम प्रभु के आसरे में, रहें नितसेवा करें।
तिनकौ निवारन को करै, चाहे जहाँ विचरें फिरें।।१४।।

अन्वयार्थ— (त्रिजगदीश्वर) हे तीन जगत् के ईश्वर, (तव) तुम्हारे (सम्पूर्णमण्डलशशांककलाकलापशुभ्रा[३६] गुणा:) पूर्णिमा के चन्द्रमण्डल की कलाओं सरीखे उज्ज्वल गुण (त्रिभुवनं) तीन भवुन को (लंघयन्ति) उल्लंघन करते हैं, अर्थात् तीनों लोकों में व्याप्त हैं। क्योंकि (ये) जो गुण (एक) एक अर्थात् अद्वितीय (नाथम्) तीन लोक के नाथ को (संश्रिता:) आश्रय करके रहे हैं,

---

[35] टेसू या ढाक के पत्ते जैसा।
[36] उज्ज्वल।

(तान्) उन्हें (यथेष्टम्) स्वेच्छानुसार (संचरत:) सब जगह विचरण करने से (क:) कौन पुरुष (निवारयति) निवारण कर सकता है— रोक सकता है? अर्थात् कोई भी नहीं।

भावार्थ— जिन उत्तम गुणों ने आपका आश्रय लिया है, वे गुण जहाँ—तहाँ इच्छापूर्वक गमन करते हैं, उन्हें कोई रोक नहीं सकता है। क्योंकि वे आप जैसे तीन लोक के नाथ के आश्रित हैं और इसी कारण अर्थात् उन गुणों के सर्वत्र विचरने से तीन लोक उन्हीं से व्याप्त हो रहा है।।१४।।

चित्रं मिमत्र यदि ते त्रिदशांगनाभि—
नीतं मनागपि मनो न विकारमार्गम्।
कल्पान्तकालमरुता चलातचलेन
किं मन्दराद्रिशिखरं चलितं कदाचित्।।१५।।

अचरज कहो इसमें कहा तुव अचल मन को मदछकीं।
जो सुघर सुरवनिता न तनिक हु, सुपथसों च्युत कर सकीं।।
जिहिने चलाये अचल[३७] ऐसो, प्रलयकौ मारुत[३८] महा।
गिरिराज मन्दर[३९] के शिखरकहँ, सो चलाय सकै कहा?।।१५।।

अन्वयार्थ— हे प्रभो, (यदि) यदि (त्रिदशांगनाभि:) देवांगनाओं करके (ते) तुम्हारा (मन:) मन (मनाक् अपि) किंचित् भी (विकारमार्गम्) विकार मार्ग को (न नीतं) नहीं प्राप्त हुआ, तो (अत्र) इसमें (किम्) क्या (चित्रं) आश्चर्य है? (किं) क्या (कदाचित्) कभी (चलिताचलेन) कम्पित किये हैं पर्वत जिसने ऐसे (कल्पान्तकालमरुता) प्रलयकाल के पवन से (मन्दराद्रिशिखरं) सुमेरु पर्वत का शिखर (चलितं) चलायमान् हो सकता है? कभी नहीं।

भावार्थ— प्रलयकाल[४०] की हवा से सब पर्वत चलायमान हो जाते हैं; परन्तु सुमेरुपर्वत किंचित् भी चलायमान नहीं होता। इसी प्रकार यद्यपि देवांगनाओं ने सम्पूर्ण ही ब्रह्मादिक देवों के चित्त चलायमान कर दिये, परन्तु आपका चित्त रंचमात्र भी विकारयुक्त नहीं हुआ।।१५।।

निर्द्धूमवर्तिरपवर्जिततैलपूर:
कृत्स्नं जगत्त्रयमिदं प्रकटीकरोषि।
गम्यो न जातु मरुतां चलिताचलानां
दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ जगत्प्रकाश:।।१६।।

---

[37] पर्वत।
[38] पवन।
[39] सुमेरु पर्वत के शिखर को।
[40] प्रलयकाल की हवा ऐसी भयानक होती है कि उससे बड़े—बड़े पर्वत हिल जाते हैं। एक सुमेरुपर्वत ही उस समय अचल रहता है।

नहिं मेल बाती तेल को, नहिं नेकु जामें धूम हू।
अरु करत है परगट निरन्तर, जो जगत ये तीन हू।।
जापै पवनबल चलत नहिं, चल करत जो गिरिवर अहो।
हे नाथ, तुम ऐसे अपूरब, जगप्रकाशक दीप हो।।१६।।

अन्वयार्थ— (नाथ) हे नाथ, (त्वं) तुम (निर्द्धूमवर्त्तिः) धूम तथा बाती रहित, (अपवर्जिततैलपूरः) तैल के पूररहित और जो (चलिताचलानां) पर्वतो के चलायमान करनेवाले (मरुतां) पवन के (जातु न गम्यः) कदाचित् भी गम्य नहीं है ऐसे (जगत्प्रकाशः) जगत के प्रकाशित करनेवाले (अपरः) अद्वितीय, विलक्षण (दीपः) दीपक (असि) हो। क्योंकि आप (इदं) इस (कृतस्नं) समस्त (जगतत्रयम्) सप्ततत्त्व नव पदार्थरूप तीन जगत् को (प्रकटीकरोषि) प्रकट करते हैं।

भावार्थ— संसार में जो दीपक दिखाई देते हैं, उनमें धुआँ और बत्ती होती हैं, परन्तु आप में वे (द्वेषरूपी धुआँ और काम की दश अवस्थारूप बत्ती) नहीं हैं। दीपकों में तैल होता है आपमें तैल अर्थात् स्नेह (राग) नहीं है। दीपक जरा—सी हवा के झोके से बुझ जाता है, आप प्रलयकाल की हवा से भी चलित नहीं होते हैं और दीपक एक घर को प्रकाशित करता है, आप तीन जगत् के सम्पूर्ण पदार्थों को प्रकाशित करते हैं। इसप्रकार आप जगत् के प्रकाश करने वाले एक अपूर्व दीपक हैं।।१६।।

नास्तं कदाचिदुपयासि न राहुगम्यः
स्पष्टीकरोषि सहसा युगपज्जगन्ति।
नम्भोधरोदरनिरुद्धमहाप्रभावः
सूर्यातिशायिमहिमासि मुनीन्द्र लोके।।१७।।

छितितैं[४१] छुपत[४२] नहिं छिनहु[४३], छाया राहु की नहिं परत है।
तिहुँ जगत को जुगपत[४४] सहज ही, जो प्रकाशित करत है।।
धाराधरन[४५] के उदर में परि, जिहि प्रभाव न घटत है।
यों मुनिप[४६], जग महिमा तिहारी, भानुहूतैं महत है।।१७।।

अन्वयार्थ— आप (न कदाचित्) न तो कभी (अस्तं) अस्त को (उपयासि) प्राप्त होते हैं, (न राहुगम्यः) न राहु के गम्य हैं, अर्थात् आपको राहु ग्रस नहीं सकता है और (न) न (अम्भोधरोदरनिरुद्धमहाप्रभावः) बादलों के उदर से ही आपका महाप्रताप रुकता है और (युगपत्) एक

---

41 पृथ्वी से।
42 अस्त होता है।
43 क्षणभर के लिए भी।
44 एक ही समय में।
45 बादलों के।
46 हे मुनिराज।

समय में (सहसा) सहज ही (जगन्ति) तीनों जगत् को आप (स्पष्टकरोषि) प्रगट करते हैं; इसप्रकार (मुनीन्द्र) हे मुनीन्द्र (लोके) लोक में आप (सूर्यातिशायिमहिमा असि) सूर्य की महिमा को भी उल्लंघन करनेवाली महिमा धारण करनेवाले हैं।

भावार्थ— सूर्य सन्ध्या को अस्त हो जाता है, आप सदाकाल प्रकाशित रहते हैं। सूर्य एक जम्बूद्वीप को ही प्रकाशित करता है, आप तीन जगत के सम्पूर्ण पदार्थों को प्रकाशित करते हैं। सूर्य को राहु का ग्रहण लगता है, आपको किसी प्रकार के दुष्कृत प्राप्त नहीं होते। सूर्य का प्रताप मेघ ढक लेते हैं, आपका प्रताप मतिश्रुतावधिमन: पर्ययकेवलादि ज्ञानावरणीय कर्मों के आवरण से रहित हैं। इसप्रकार हे मुनिनाथ, आप सूर्य से भी बड़े सूर्य हैं।१७।।

नित्योदयं दलित—मोह—महान्धकारं
गम्यं न राहुवदनस्य न वारिदानाम्।
विभ्राजते तव मुखाब्जमनल्पकान्ति
विद्योतयज्जगदपूर्वशशांकबिम्बम्।१८।।

जो उदयरूप रहै सदा, पुनि मोह को तम हनत है।
मुख राहु के न परै कबहुँ, जिहिको न वारिद[४७] ढकत है।।
हे नाथ, सो मुखकमल तुव, धारत प्रकाश अमंद[४८] है।
सोहत जगत—उद्योतकारी, अति अपूरब चंद है।१८।।

अन्वयार्थ— (यत्) जो (नित्योदयं) सदा उदयरूप रहता है, जो (दलितमोहमहान्धकारं) मोहरूपी महान् अन्धकार को नष्ट करता है, (न राहुवदनस्य) न राहु के मुख के (गम्यं) गम्य है और (न वारिदानाम्) न बादलों के गम्य है, अर्थात् जिसे न तो राहु ग्रसता है और न बादल ढकते हैं और जो (जगत्) जगत् को (विद्योतयत्) प्रकाशित करता है, ऐसा हे भगवन्, (तव) तुम्हारा (अनल्पकान्ति) अधिक कान्तिवाला (मुखाब्जम्) मुखकमल (अपूर्वशशांकबिम्बम्) विलक्षण चन्द्रमा के बिम्बरूप (विभ्राजते) शोभित होता है।

भावार्थ— आपका मुखकमल एक विलक्षण चन्द्रमा है। क्योंकि चन्द्रमा तो केवल रात्रि में ही उदित होता है; परन्तु आपका मुख सदा ही उदयरूप रहता है। चन्द्रमा साधारण अन्धकार का नाश करता है; परन्तु आपका मुख अज्ञान अथवा मोहनीयकर्मरूप महाअन्धकार को नष्ट करता है। चन्द्रमा को राहु ग्रसता है, बादल छुपा लेते हैं, परन्तु आपके मुख को ढकनेवाला कोई नहीं है। चन्द्रमा पृथ्वी के कुछ भाग को प्रकाशित करता है, परन्तु आपका मुख तीन जगत को प्रकाशित करता है। चन्द्रमा थोड़ी कान्तिवाला है; परन्तु आपके मुख की अनन्त कान्ति है।१८।।

---

[47] बादल।

[48] मन्द नहीं, अर्थात् अधिक प्रकाशमान्।

किं शर्वरीषु शशिनाह्नि विवस्वता वा
युष्मन्मुखेन्दुदलितेषु तमःसु नाथ।
निष्पन्नशालिवनशालिनि जीवलोके।
कार्यं कियज्जलधरैर्जलभारनम्रैः।।१९।।

हे नाथ, यदि तुव तमहरन वर, मुखमयंक अमंद है।
तौ व्यर्थ ही सूरज दिवस में, और निशि में चंद ळे।।
चहुँ ओर शोभित शालि के, बहु बननसों जो ह्वै रहो।
जलभरे मेघनसों कहा, तिहि देश में कारज कहो।।१९।।

अन्वयार्थ— (नाथ) हे नाथ, (युष्मन्मुखेन्दुदलितेषुतमःसु) आपके मुखरूपी चन्द्रमाकरके अंधकार के नष्ट हो जाने पर (शर्वरीषु) रात्रियों में (शशिना) चन्द्रमाकरके (धा) अथवा (अह्नि) दिन में (विवस्वता) सूर्य करके (किं) क्या? (जीवलोके निष्पन्नशालिवनशालिनि) जीवलोक में अर्थात् देश में धान्य के खेतों के पक चुकने पर (जलभारनम्रैः) पानी के भार से झुके हुए (जलधरैः) बादलों करके (कियत् कार्यं) क्या प्रयोजन सिद्ध होता है? अर्थात् कुछ नहीं।

भावार्थ— जिस प्रकार पके हुए धान्यवाले देश में बादलों का बरसना व्यर्थ है; क्योंकि उस जल से कीचड़ होने के सिवाय और कुछ लाभ नहीं होता; उसी प्रकार से जहाँ आपके मुखरूपी चन्द्रमा से अज्ञान अन्धकार का नाश हो चुका है, वहाँ रात्रि और दिन में चन्द्र सूर्य व्यर्थ ही शीत तथा आतप के करनेवाले हैं।।१९।।

ज्ञानं यथा त्वयि विभाति कृतावकाशं
नैवं तथा हरिहरादिषु नायकेषु।
तेजः स्फुरन्मणिषु याति यथा महत्त्वं
नैवं तु काचशकले किरणाकुलेपि[४९]।।२०।।

जो स्वपरभावप्रकाशकारी, लसत तुम में ज्ञान है।
सो हरिहरादिक नायकों में, नाहिं होवत भान है।।
जैसो प्रकाश महान मनि में, महतता को लहत है।
तैसो न कबहूँ कांतिजुत हू, काच में, लख परत है।।२०।।

अन्वयार्थ— हे नाथ, (कृतावकाशं[५०]) किया है अनन्त पर्यायात्मक पदार्थों का प्रकाश जिसने, ऐसा (ज्ञानं) केवलज्ञान (यथा) जैसा (त्वयि) आप में (विभाति) शोभायमान है, (तथा) वैसा

---

[49] ''काचोद्भवेषु न तथैव विकासकत्वं'' ऐसा भी पाठ है।
[50] अनन्तपर्यायादिके वस्तुनि कृते विहितोऽवकाशः प्रकाशो येन तत!

(हरिहरादिषु) हरिहरादिक (नायकेषु) नायकों[५१] में (नैवं) नहीं है। ठीक ही है। क्योंकि (यथा) जिस प्रकाश से (तेजः) प्रकाश (स्फुरन्मणिषु) स्फुरायमान मणियों में (महत्त्वं) गौरव को (याति) प्राप्त होता है, (एवं तु) वैसा तो (किरणाकुले अपि) किरणों से व्याप्त अर्थात् चमकते हुए भी (काचशकले) कांच के टुकड़े में (न) नहीं होता।

भावार्थ— जो प्रकाश मणियों में शोभा को पाता है, वह काँच के टुकड़ों में नहीं पा सकता। इसी प्रकार जैसा स्वपरप्रकाशक ज्ञान आपमें है, वैसा अन्य विष्णु महादेव आदि देवों में नहीं पाया जाता।।२०।।

मन्ये वरं हरिहरादय एव दृष्टा
दृष्टेषु येषु हृदयं त्वयि तोषमेति।
किं वीक्षितेन भवता भुवि येन नान्यः
कश्चिन्मनो हरति नाथ भवान्तरेपि।।२१।।

नरेन्द्र छनद या जोगीरासा।

हरिहर आदिक देवन को ही, अवलोकन मोहि भावै।
जिनहिं निरखकर जिनवर, तुममें, हृदय तोष अति पावै।।
पै कहा तुम दरसनसों भगवन्, जो इस जग के माहीं।
परभव में हू अन्य देव मन, हरिवे समरथ नाहीं।।२१।।

अन्वयार्थ— (नाथ) हे नाथ मैं (हरिहरादयः दृष्टा एव) हरिहरादिक देवों का देखना ही (वरं मन्ये) अच्छा मानता हूँ। (येषु दृष्टेषु) जिनके देखने से (हृदयं) हृदय (त्वयि) तुम में (तोषं) संतोष को (एति) पाता है और (भवता वीक्षितेन) आपके देखने से (किं) क्या? (येन) जिससे कि, (भुवि) पृथ्वी में (अन्यःकश्चित्) कोई अन्य देव (भवान्तरे अपि) दूसरे जन्म में भी (मनः न हरति) मन हरण नहीं कर सकता।

भावार्थ— हरिहरादिक देवों को देखना अच्छा है। क्योंकि जब हम उन्हें देखते हैं और रागद्वेषादि देषों से भरे हुए पाते हैं, तब आप में हम को अतिशय संतोष होता है। क्योंकि आप परम वीतराग सर्व दोषों से रहित हैं; परन्तु आपके देखने से क्या? कुछ नहीं। क्योंकि आपको देख लेने से फिर संसार का कोई भी देव मन को हरण नहीं कर सकता। सारांश— दूसरों को देखने से तो आप में संतोष होता है, यह लाभ है और आपके देखने से किसी भी देव की ओर चित्त नहीं जाता, यह हानि है। (व्याजनिंदा और व्याजस्तुति अलंकार)।।२१।।

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रा—
न्नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता।

---

[51] अपने—अपने शासन के नायाकें अर्थात् स्वामियों में।

सर्वा दिशो दधति भानि सहस्ररश्मिं
प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशुजालम्।।२२।।

अहैं सैकड़ों सुभगा नारीं, जो बहुसुत उपजावैं।
पै तुम सम सुपूत की जननीं, यहाँ न और दिखावैं।
यद्यपि दिशिविदिशाएँ सिगरीं, धरैं नछत्र अनेका।
पै प्रतापि रवि को उपजावै, पूर्वदिशा ही एका।।२२।।

अन्वयार्थ— हे भगवन् (स्त्रीणां शतानि) स्त्रियों के सैकड़ों अर्थात् सैकड़ों स्त्रियाँ (शतशः) सैकड़ों (पुत्रान्) पुत्रों को (जनयन्ति) जनती है; परन्तु (अन्या) दूसरी (जननी) माता (त्वदुपमं) तुम्हारे जैसे (सुतं) पुत्र को (न प्रभूता) उत्पन्न नहीं कर सकती है। सो ठीक ही है। क्यों कि (सर्वा दिशः) सम्पूर्ण अर्थात् आठों दिशाएँ (भानि) नक्षत्रों को (दधति) धारण करती हैं; परन्तु (स्फुरत्—अंशुजालं) दैदीप्यमान् है किरणों का समूह जिसका, ऐसे (सहस्ररश्मि) सूर्य को एक (प्राची दिक् एव जनयति) पूर्व दिशा ही उत्पन्न करती है।

भावार्थ— जिस प्रकार एक पूर्व दिशा ही सूर्य को उत्पन्न कर सकती है, उसी प्रकार एक आपकी माता ही ऐसी है, जिसने आप जैसे पुत्र को जन्म दिया।।२२।।

त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमांस[५२]
मादित्यवर्णममलं तमसः पुरस्तात्।
त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्युं
नान्यः शिवः शिवपदस्य मुनीन्द्र पन्था।।२३।।

हे मुनीश, मुनिजन तुमकहँ नित, परमपुरुष परमानैं।
अंधकार नाशन के कारन, दिनकर[५३] अमल सु जानैं।।
तुम पाये तै भलीभांतिसों, नीच मीच[५४] जय होई।
यासों तुमहिं छाँडि शिवपदपथ[५५], विघनरहित नहिं कोई।।२३।।

अन्वयार्थ— (मुनीन्द्र) हे मुनीन्द्र, (मुनयः) मुनि जन (त्वाम्) तुम्हें (परमं[५६] पुमांसं) परम पुरुष और (तमसः) अंधकार के (पुरस्तात्) आगे (आदित्यवर्णम्) सूर्य के स्वरूप तथा (अमलं) निर्मल

---

52 ''पवित्रम्'' भी पाठ है।
53 सूर्य।
54 मृत्यु—मौत।
55 मोक्षपद का रास्ता।
56 परमपुंस्त्वं बाह्याभ्यन्तरपुंसोरपेक्षया। बाह्यः पुमान् कायः औदारिकादिः आन्तरः पुमान् सकर्मा जीवः, परमः पुमान् निःकर्मा सानन्तचतुष्कः सिद्ध एवावसेयः। यहाँ परम विशेषण बाह्य और अंतरंग पुमान की अपेक्षा हे। बाह्यपुमान् औदारिकादि शरीरों को कहते हैं और अन्तरंग पुमान् कर्म सहित जीव को कहते हैं। इसलिए परम पुमान् से कर्म रहित सिद्ध आत्मा ही समझना चाहिए।

(आमनन्ति) मानते हैं तथा वे मुनिजन (त्वाम् एव) तुम्हें ही (सम्यक्) भले प्रकार (उपलभ्य) पा करके (मृत्युं) मृत्यु को (जयन्ति) जीतते हैं। इसलिए तुम्हारे अतिरिक्त (अन्य:) दूसरा कोई (शिव:) कल्याणकारी अथवा निरुपद्रव (शिवपदस्य) मोक्ष का (पन्था: न) मार्ग नहीं है।

भावार्थ— साधु मुनियों के समूह आपको परमपुरुष मानते हैं। रागद्वेषरूपी मल से आप रहित हैं, इस कारण निर्मल मानते हैं। मोह अंधकार को आप नाश करते हैं, इस कारण सूर्य के समान मानते हैं। आपके प्राप्त होने से मृत्यु नहीं आती, इस कारण मृत्यंजय मानते हैं और आपके अतिरिक्त कोई निरुपद्र मोक्ष का मार्ग नहीं है, इस कारण आपको ही वे मोक्ष का मार्ग मानते हैं।।२३।।

त्वामव्ययं विभुमचिन्त्यमसंखयमाद्यं
ब्रह्माणमीश्वरमनन्तमनंगकेतुम्।
योगीश्वरं विदितयोगमनेकमेकं
ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्त:।।२४।।

कहैं संतजन तोहि निरंतर, अखय अनन्त अनूपा।
आद्य अचिंत्य असंख्य अमल विभु, केवल ज्ञानस्वपा।।
एक अनेक ब्रम्ह परमेश्वर, कामकेतु योगीशा।
जोगरीति को जाननवारो, श्रीजिनेन्द्र जगदीशा।।२४।।

अन्वयार्थ— हे प्रभो, (सन्त:) सन्त पुरुष (त्वाम्) तुम्हें (अव्ययं[५७]) अक्षय, (विभुं[५८]) परम ऐश्वर्य से शोभित (अचिन्त्यं[५९]) चिन्तवन में नहीं आनेवाले, (असंख्यं[६०]) असंख्य गुणोंवाले, (आद्यं) आदि तीर्थंकर अथवा पंचपरमेष्ठी में आदि अरहंत, (ब्रम्हाणं) निर्वृत्तिरूप अथवा सकलकर्मरहित, (ईश्वरं) सर्व देवों के ईश्वर अथवा कृतकृत्य, (अनन्तम्) अन्तरहित अथवा अनन्त चतुष्टय सहित (अनंगकेतुम) कामदेव के नाश करने के लिए केतुरूप[६१] (योगीश्वरं), ध्यानियों के प्रभु (विदितयोगं[६२]), यम आदि आठ प्रकार के योगों के जानने वाले (अनेकं) गुणपर्याय की अपेक्षा अनेकरूप, (एकं[६३]) जीव द्रव्य की अपेक्षा एक अथवा अद्वितीय (ज्ञानस्वरूपं), केवलज्ञानस्वरूप चिद्रूप और (अमलं) कर्म मलरहित (प्रवदन्ति) कहते हैं।

---

[57] सदा स्थिर एकस्वभावी अनंतज्ञानादिस्वरूप विनाशरहित।

[58] व्यापक— जिसका ज्ञान सर्वत्र व्यापक है। अथवा कर्म के नाश करने में समर्थ भी विभु का अर्थ होता है।

[59] अद्भुत हैं— अचिन्त्य हैं, गुण जिसके।

[60] संख्या शब्द का अर्थ युद्ध भी होता है, इससे असंख्य का अर्थ युद्धरहित भी हो सकता है। अथवा कालतो गुणतो वा असंख्यम्'' अर्थात् भगवान् काल से या गुण से भी असंख्य हैं।

[61] केतु ग्रह का उदय जिस प्रकार संसार का नाश करने के लिए होता है, उसी प्रकार आपका उदय कामदेव का नाश के लिए है।

[62] विदितोऽवगत: ज्ञानदर्शनचारित्ररूपो योगो येन। विदितोयोगो येन यस्माद्वा अर्थात् ज्ञानदर्शनचारित्ररूप योग का जानने वाला अथवा जिससे या जिसने योग जाना है। उसे विदितयोग कहते हैं।

[63] वृषभादिव्यक्तिभेदापेक्षया वा। अर्थात् ऋषभदेव आदि व्यक्तिभेद की अपेक्षा भी भगवान् को एक कह सकते हैं।

भावार्थ— साधु पुरुष आपकी पृथक्—पृथक् तीन गुणों की अपेक्षा अव्यय, अचिन्त्य, विभु आदि कहकर स्तुति करते हैं।।२४।।

बुद्धस्तवमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधा—
त्त्वं शंकरोऽसि भुवनत्रयशंकरत्वात्
घातासि धीर शिवमार्गविधेर्विधानात्
व्यक्तं त्वमेव भगवन् पुरुषोत्तमोऽसि।।२५।।

विबुधन[६४] पूजौ बुद्धि—बोध तुव, यासों बुद्ध तुम्ही हो।
तीनभुवन के शंकर[६५] यासों, शंकर शुद्ध तुम्ही हो।।
शिवमारग के विधि विधानसों, साँचे तुम्ही विधाता।[६६]
त्यों ही शब्द अर्थसों तुम ही, पुरुषोत्तम[६७] जगत्राता।।२५।।

अन्वयार्थ— हे नाथ, (विबुधार्चितबुद्धिबोधात्[६८]) गणधरों ने अथवा देवों ने तुम्हारे केवलज्ञान के बोध की पूजा की है। इस कारण (त्वम् एव) तुम ही (बुद्धः) बुद्धदेव हो, (भुवनत्रयशंकरत्वात्) तीन लोक के जीवों के शं अर्थात् सुख वा कल्याण के करनेवाले हो, इस लिए (त्वं) तुम ही (शंकरः असि) शंकर हो और (धीर) हे धीर, (शिवमार्गविधेः) मोक्षमार्ग की रत्नत्रयरूप विधि का (विधानात्) विधान करने के कारण तुम ही (धाता असि) विधाता हो। इसी प्रकार (भगवन्) हे भगवन्, (त्वम् एव) तुम ही (व्यक्तं) प्रकटपने से अर्थात् उपर्युक्त प्रकार से पुरुषों में उत्तम होने के कारण (पुरुषोत्तमः) पुरुषोत्तम वा नारायण (असि) हो।

भावार्थ— बौद्ध लोग जिसे माने हैं, वह क्षणिकवादी अर्थात् सम्पूर्ण पदार्थों को अनित्य माननेवाला बुद्ध नहीं हो सकता। सच्चे बुद्ध आप हैं। क्योंकि आपके बुद्धिबोध की देवों ने पूजा की है। शैव लोग जिसे मानते हैं, वह पृथ्वी का संहार करने वाला कपाली शंकर (महादेव) नहीं हो सकता, क्योंकि शंकर शब्द का अर्थ सुखकर्ता है। यह गुण आपमें विद्यमान है, इस कारण आप ही सच्चे शंकर हैं। रंभा के विलासों से जिसका तप नष्ट हो गया था, वह सच्चा धाता (ब्रह्मा) नहीं, किन्तु आप हैं। क्योंकि आपने मोक्षमार्ग की विधि संसार को बतलाई है और इसी प्रकार वैष्णवों का गोपियों का चीर हरण करने वाला तथा परवनितारक्त पुरुष पुरुषोत्तम (विष्णु) नहीं हो सकता। किन्तु उपर्युक्त गुणों के कारण आप ही सच्चे पुरुषोत्तम कहलाने के योग्य हैं।।२५।।

तुभ्यं नमस्त्रिभुवनार्तिहराय नाथ

---

64 देवों ने।

65 कल्याण अथवा सुख के करनेवाले।

66 ब्रह्मा।

67 नारायण श्रीकृष्ण।

68 कोई—कोई इस पद के दो खण्ड करके अर्थ करते हैं, एक तो ''विबुधार्चित'' अर्थात् हे देवों के द्वारा पूज्य और दूसरा ''बुद्धिबोधात्'' अर्थात् केवलज्ञान के बोध से।

तुभ्यं नमः क्षितितलामलभूषणाय।
तुभ्यं नमस्त्रिजगतः परमेश्वराय
तुभ्यं नमो जिन भवोदधिशोषणाय।।२६।।

तीनभुवन के विपदविदारक, तारनतरन नमस्ते।
वसुधातल[६९] के निरमल भूषन, दूषनदरन नमस्ते।।
तीनलोक के परमेश्वर जिन, विगतविकार नमस्ते।
अति गम्भीर जगतजलनिधि के शोषनहार नमस्ते।।२६।।

अन्वयार्थ— (नाथ) हे नाथ, (त्रिभुवनार्तिहराय) तीन लोक की पीड़ा को हरण करने वाले ऐसे (तुभ्यं) तुम्हें (नमः) नमस्कार है, (क्षितितलामभूषणाय) पृथ्वीतल के एक निर्मल अलंकाररूप (तुभ्यं) तुम्हें (नमः) नमस्कार है, (त्रिजगतः परमेश्वराय) तीनों जगत् के परम प्रभु (तुभ्यं) तुम्हें (नमः) नमस्कार है और (जिन) हे जिन, (भवोदधिशोषाणाय) संसार समुद्र के सोखने वाले (तुभ्यं) आपको (नमः) नमस्कार है।।२६।।

को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषै—
स्त्वं संश्रितो निरवकाशतया मुनीश।
दोषैरुपात्तविविधाश्रयजातगर्वैः
स्वप्नान्तरेपि न कदाचिदपीक्षितोसि

हे मुनीश, गुनगन मिलि सिगरे, आय बसे तुवमाहीं।
ह्वैकै अतिशय सघन, रह्यौ अवकाश लेश हू नाहीं।।
यह लखि दोषवृन्द सपनेहुँ में, जो न ओर तुव जोवै।
नो नहिं अचरज, बहुआश्रयतैं[७०] गरब सबनि को होवै।।२७।।

अन्वयार्थ— (मुनीश) हे मुनियों के ईश्वर, (यदि) यदि (अशेषैः) सम्पूण्र (गुणैः) गुणो ने (निवकाशतया) सघनता से (त्वं संश्रितः) तुम्हारा भले प्रकार आश्रय ले लिया, (अपि) तथा (उपात्तविविधाश्रयजातगर्वैः) प्राप्त किये हुए अनेक देवादिकों के आश्रय से जिन्हें घमण्ड हो रहा है, ऐसे (दोषैः) दोषों ने (स्वप्नान्तरे अपि) स्वप्न प्रतिस्वप्नावस्थाओं[७१] में भी (कदाचित् अपि) किसी समय भी तुम्हें (न ईक्षितः असि) नहीं देखा, तो (अत्र) इसमें (को नाम विस्मयः) कौन—सा आश्चर्य हुआ? कुछ नहीं।

---

69 पृथ्वीतल के।
70 जिनके ठहरने के बहुत से आश्रय होते हैं, उन्हें घमण्ड होता ही है।
71 स्वप्न के भीतर जो स्वप्न आते हैं, उन्हें प्रतिस्वप्न कहते हैं।

भावार्थ— संसार में जितने गुण थे, उन सभी ने तो आपमें इस तरह से ठसाइस निवास कर लिया कि, फिर कुछ भी अवकाश शेष नहीं रहा और दोषों ने यह सोचकर घमण्ड से आपकी ओर कभी देखा भी नहीं कि, जब संसार के बहुत से देवों ने हमें आश्रय दे रक्खा है, तब हम को एक जिनदेव की क्या परवा है? उनमें हम को स्थान नहीं मिला, तो न सही। सारांश यह है कि, आप में केवल गुणों का ही समूह है, दोषों का नाम भी नहीं है।।२७।।

उच्चैरशोकतरुसंश्रितमुन्मयूख—
माभाति रूपममलं भवतो नितान्तम्।
स्पष्टोल्लसत्किरणमस्ततमोवितानं
बिम्बं रवेरिव पयोधरपार्श्ववर्ति।।२८।।

हे जिनवर, अशोकतल तुव अति, विमलरूप मन मोहै।
किरन—निकर[७२]—बितरनसों चहुँघा, अस उपमायुत सोहै।।
जैसे जलधर के समीप, सोहत बहु किरनस्वरूपा।
तेजमान तमतोमहरन[७३] वर, दिनकरबिम्ब अनूपा।।२८।।

अन्वयार्थ— (उच्चैः) ऊँचे (अशोकतरुसंश्रितम्) अशोक वृक्ष के आश्रय में स्थिर और (उन्मयूखं) ऊपर की ओर निकलती हैं किरणें जिसकी, ऐसा (भवतो) आपका (नितान्तं) अत्यन्त (अमलं) निर्मल (रूपं) रूप— (स्पष्टोल्लसत्किरणम्) व्यक्तरूप को ऊपर को फेली हैं किरणें जिसकी, ऐसे तथा (अस्ततमोवितानं) नष्ट किया है अंधकार का समूह जिसने ऐसे, (पयोधरपार्श्ववर्ति) बादलों के पास रहनेवाले (रवेः) सूर्य के (बिम्बं इव) बिम्ब के समान (आभाति) शोभित होता हे।

भावार्थ— बादलों के निकट जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब शोभा देता है, उसी प्रकार अशोक वृक्ष के नीचे आपका निर्मल शरीर भासमान होता है। (भगवान् के आठ प्रातिहार्यों में से पहले प्रातिहार्य का वर्णन इस श्लोक में किया गया है)।।२८।।

सिंहासने मणिमयूखशिखाविचित्रे
विभ्राजते तव वपुः कनकावदातम्।
बिम्बं वियद्विलसदंशुलतावितानं
तुंगोदयाद्रिशिरसीव सहस्ररश्मेः।।२९।।

मनिकिरननसों चित्रित दुतियुत, सिंहासन मन भावै।
तापै जिन, तुव कनकवरन तन, ऐसी उपमा पावै।।
तान वितान[७४] गगन में अपनी, किरनन को सुखदाई।

---

72 किरणों का समूह।

73 अंधकार के समूह को हरण करने वाला।

ऊँचे उदयाचल[७५] के ऊपर, दिनकरबिम्ब[७६] दिखाई।।२९।।

अन्वयार्थ— हे भगवन्, (मणिमयूखशिंखाविचिते) मणियों की किरणपंक्ति से चित्र—विचित्र (सिंहासने) सिंहासन पर (तव) तुम्हारा (कनकावदातम्) सुवर्ण के समान मनोज्ञ (वपु:) शरीर (तुंगोदयाद्रिशिरसि) आकाश[७७] में शोभित हो रहा है किरणरूपी लताओं का चँदोवा जिसका ऐसे (सहस्ररश्मे: बिम्बं इव) सूर्य के बिम्ब की तरह (विभ्राजते) अतिशय शोभित होता है।

भावार्थ— उदयाचल पर्वत के शिखर पर जैसे सूर्यबिम्ब शोभा देता है, उसी प्रकार मणिजटित सिंहासन पर आपका शरीर शोभित होता है। (यह भगवान् के दूसरे प्रातिहार्य का वर्णन है।)।।२९।।

कुन्दावदातचलचामरचारुशोभं
विभ्राजते तव वपु: कलधौतकान्तम्।
उद्यच्छशांकशुचिनिर्झरवारिधार—
मुच्चैस्तटं सुरगिरेरिव शातकौम्भम्।।३०।।

कनकवरन तुव सुतनु[७८], जासुपर, कुन्दसुमनदुतिधारी[७९]।
चारु चमर चहुँ दुरत विशद[८०] अति, सोहत यों मनहारी।।
सुरगिरिके[८१] कंचनमय ऊँचे, तटपर ज्यों लहरावै।
झरनन की उज्ज्वल जलधारा, उदित इन्दुसी[८२] भावै।।३०।।

अन्वयार्थ— हे जिनेन्द्र, (कुन्दावदातचलचामरचारुशोभम्) ढुरते हुए कुन्द के समान उज्ज्वल चँवरों से मनोहर हो रही है शोभा जिसकी ऐसा (कलधौतकान्तम्) सोने सरीखी कान्तिवाला (तव वपु:) आपका शरीर— (उद्यच्छशांकशुचिनिर्झरवारिधारम्) उदयरूप चन्द्रमा के सामन निर्मल झरनों की जलधारा जिनमें बह रही है, ऐसे (शातकौम्भम्) सुवर्णमयी (सुरगिरे:) सुमेरु पर्वत के (उच्चैस्तटं इव) ऊँचे तटों की नाई (विभ्राजते) शोभित होता है।

---

74 चंदोवा।
75 जिस पर्वत से सूर्य उदय होता है, उसको उदयाचल कहते हैं।
76 सूर्य का बिम्ब।
77 आकाश में जो सूर्य की किरणें फेलती हैं, वे उदय की अवस्था में रक्त वर्ण होती हैं।
78 सुन्दर शरीर।
79 कुन्द के पुष्प के समान शोभा को धारण करनेवाले।
80 निर्मल
81 सुमेरुपर्वत के।
82 चन्द्रमासरीखी।

भावार्थ— सुवर्णमय सुमेरुपर्वत के दोनों तटों पर मानों निर्मल जलवाले दो झरने झरते हों, इस प्रकार से भगवान् के सुवर्णसदृश शरीर पर दो उज्ज्वल चमर ढुर रहे हैं। (यह तीसरे प्रातिहार्य का का वर्णन है।)।।३०।।

छत्रत्रयं तव विभाति शशांककान्त—
मुच्चैः स्थितं स्थगितभानुकरप्रतापम्[८३]।
मुक्ताफलप्रकरजालविवृद्धशोभम्
प्रख्यापयत्रिजगतः परमेश्वरत्वम्।।३१।।

शशिसमान रमनीय प्रखर, रवितापनिवारनहारे[८४]।
मुकतनकी मंजुल[८५] रचनासों, अतिशय शोभा धारे।।
तीन छत्र ऊँचे तुव सिर पर, हे जिनवर, मन भावैं।
तीन जगत की परमेश्वरता, वे मानों प्रटावैं।।३१।।

अन्वयार्थ— हे नाथ, (शशांककान्तम्) चन्द्रमा के समान रमणीय, (उच्चैःस्थितं) ऊपर ठहरे हुए, तथा (सगितभानु करप्रतापम्) निवारण किया है सूर्य की किरणों का प्रताप जिन्होंने, और (मुक्ताफलप्रकरजालविवृद्धशोभम्) मोतियों के समूह की रचना से बढ़ी हुई है शोभा जिनकी ऐसे (तव) आपके (छत्रत्रयं) तीन छत्र (त्रिजगतः) तीन जगत् का (परमश्वरत्वम्) परम ईश्वरपना (प्रख्यापयत्) प्रकट करते हुए (विभाति) शोभित होते हैं।

भावार्थ— हे भगवन्, आपके तीन छत्र तीनों जगत के परमेश्वरपने को प्रकट करते हैं। अर्थात् एक छत्र से पाताल लोक का, दूसरे से मर्त्यलोक का और तीसरे छत्र से देवलोक का स्वामित्व प्रकट करते हैं। (यह चौथे प्रातिहार्य का वर्णन है।)।।३१।।

गम्भीरताररवपूरितदिग्विभाग—
स्त्रैलोक्यलोकशुभसंगमभूतिदक्षः[८६]।
सद्धर्मराजजयघोषणघोषकः सन्
खे दुन्दुभिर्ध्वजति[८७] ते यशसः प्रवादी[८८]।।३२।।

रुचिर उच्च गम्भीर सुरनकर[८९], दशदिशि पूरनवारो।

---

83 'प्रभावम्' भी पाठ है।
84 सूर्य का आतप—गर्मी।
85 सुन्दर।
86 'सुख' भी पाठ है।
87 'ध्वनति' भी पाठ है, जिसका अर्थ बजाता है' ऐसा होता है।
88 'प्रबंदी' भी पाठ है, जिसका अर्थ 'बन्दीजन' होता है।
89 शब्दोकरके।

त्रिभुवनजनकहँ शुभसंगम की, सम्पत्ति वितरनहारो।।
गगनमाहिं पुनि तुव जस की जो, महिमा गावत छाजै।
सो दुन्दुभि जिनराजविजय की करत घोषणा बाजै।।३२।।

अन्वयार्थ— हे जिनेन्द्र, (गम्भीरताररवपूरितदिग्विभाग:) गम्भीर तथा ऊँचे शब्दों से दिशाओं को पूरित करनेवाला, (त्रैलोक्यलोकशुभसंगमभूतिदक्ष:) तीन लोक के लोगों को शुभसमागम की विभूति देने में चतुर ऐसा और (ते) आपके (यशस:) यज्ञ का (प्रवादी) कहनेवाला—प्रकट करने वाला (दुन्दुभि:) दुन्दुभि (खे) आकाश में (सद्धर्मराजजयघोषणघोषक: सन्) सद्धर्मराज की अर्थात् तीर्थंकरदेव की जयघोषणा को प्रकट करता हुआ (ध्वजति) गमन करता है।

भावार्थ— समवशरण में जो दुन्दुभि बजते हैं, वे यथार्थ में आपके यश का गायन करते हुए आपकी विजयघोषणा करते हैं। (यह पाँचवाँ प्रातिहार्य है।)।।३२।।

मन्दारसुन्दरनमेरुसुपारिजात—
सन्तानकादिकुसुमोत्करवृष्टिरुद्धा।
गन्धोदबिन्दुशुभमन्दमरुत्प्रपाता
दिव्या दिव: पतति ते वचसां ततिर्वा।।३३।।

गन्धोदक बिन्दुनसों पावन, मन्दपवन की प्रेरी।
पारिजात मन्दार आदि के, नवकुसुमन की ढेरी।।
ऊरधमुखि ह्वै नभसों बरसत, दिव्य अनूप सुहाई।
मानों[९०] तुव वचनन की पंकति, रूपराशि[९१] धरि छाई।।३३।

अन्वयार्थ— हे नाथ (गन्धोदबिन्दुशुभमन्दमरुत्प्रपाता) गन्धोदक की बूँदों से मंगलीक और मन्दमन्द वायु से पतन करनेवाली, (उद्धा) ऊर्ध्वमुखी[९२] और (दिव्या) दिव्य[९३] ऐसी (मन्दारसुन्दरनमेरुसुपारिजातसन्तानकादिकुसुमोत्करवृष्टि:) मन्दार, सुन्दर, नमेरु, सुपारिजात, सन्तानक आदि कल्पवृक्षों के फूलों की वर्षा (दिव:) आकाश से (पतति) पड़ती है (वा) अथवा (ते) आपके (वचसां) वचनों की (तति:) पंक्ति ही फैलती है।

भावार्थ— भगवान् के समवसरण में जो फूलों की वर्षा होती है, वह ऐसी जान पड़ती है, मानों भगवान् के दिव्य वचन ही फेल गये हों। (यह छठा प्रातिहार्य है)।।३३।।

---

[90] आचार्य प्रभाचन्द्र जी की टीका में 'वयसां तति:' ऐसा भी पाठ है और उसका अर्थ 'पक्षियों की पंक्ति' किया है। अर्थात् पुष्पवृष्टि ऐसी जान पड़ती है, मानों आकाश से पक्षियों की श्रेणी पृथ्वी पर उतरती हो। जो महाशय 'वयसां तति:' पाठ को पसन्द करें, वे यहाँ इसप्रकार पढ़े— ''मानों यह विहगन की पंकति, देवलोकसों आई।''

[91] रूपराशि से यह प्रयोजन है कि, दिव्यध्वनि जो देखी नहीं जाती, वह मानो दृश्य अर्थात् पुद्गलरूप होकर फेल रही है।

[92] भगवान् के समवसरण में जो फूल बरसते हैं, उसके मुँह ऊपर को रहते हं और डण्ठल नीचे को। श्रीरत्नचन्द्रसूरि ने अपनी संस्कृत टीका में उद्धार का अर्थ श्लाघ्य—प्रशंसनीय लिखा है।

[93] देवलोक में जो उत्पन्न होवे अथवा देवों के द्वारा जो की जाय। पारमार्थिकी को भी दिव्य कहते हैं।

शुम्भत्प्रभावलयभूरिविभा[९४] विभोस्ते
लोकत्रयद्युतिमतां[९५] द्यतिमाक्षिपन्ती।
प्रोद्यद्दिवाकरनिरन्तरभूरिसंख्या–
दीप्त्या जयत्यपि निशामपि सोमसौम्या[९६]।।

जाकी अमित सुदुति के आगैं, सब दुतिवंत लजावैं।
अगनित उदित दिवाकर[९७] हू जिहि, समता नहिं कर पावैं।।
हे विभु, ऐसो तेजपुंज तुव, भामण्डल अति नीको।
शशिसम[९८] सौम्य तऊ जीतत है, दीपतिसों रजनी को।।

अन्वयार्थ– हे विभो! (प्रोद्यद्दिवाकरनिरन्तरभूरिसंख्या) दैदीप्यमान सघन और अनेक संख्यावाले सूर्यों के तुल्य (ते विभोः) तुम्हारे (शुम्भत्प्रभावलयभूरिविभा) शोभायमान भामण्डल की अतिशय प्रभा (लोकत्रयद्युतिमतां) तीनों लोकों के प्रकाशमान पदार्थों की (द्युतिम्) द्युति को (आक्षिपन्ती) तिरस्कार करती हुई (सोमसौम्या अपि) चन्द्रमा की नाईं सौम्य होने पर भी (दीप्त्या) अपनी दीप्ति के द्वारा (निशाम् अपि) रात्रि को भी (जयति) जीतती है।

भावार्थ– यह विरोधाभास अलंकार है। इसमें विरोध तो यह है कि, 'सोमसौम्या' अर्थात् जो प्रजा चन्द्रमा सरीखी होगी वह रात्रि को सुशोभित करेगी; परन्तु यहाँ कहा है कि, जीतती है आच्छादित करती है और विरोध का परिहार इस प्रकार होता है कि, 'दीप्त्या' अर्थात् दीप्ति से रात्रि को जीतती है, अर्थात् रात्रि का अभाव करती है। सारांश यह है कि, भामण्डल की प्रभा यद्यपि कोटि सूर्य के समान तेजवाली है; परन्तु आताप करने वाली नहीं है, वह चन्द्रमा के समान शीतल है और रात्रि का अन्धकार नहीं होने देती है। (यह सातवाँ प्रातिहार्य है)।।३४।।

स्वर्गापवर्गगममार्गविमार्गणेष्टः
सद्धर्मतत्त्वकथनैकपटुस्त्रिलोक्याः।
दिव्यध्वनिर्भवति ते विशदार्थसर्व–
भाषास्वभावपरिणामगुणैः प्रयोज्यः[९९]।।३५।।

---

94 'चञ्चत्प्रभा'– भी पाठ है।
95 'लोकत्रये' भी पाठ है।
96 'सोमसौम्यां' भी पाठ है, जो निशाम् का विशेषण होता है। इसका अर्थ यों होता है कि, 'चन्द्रमा करके मनोहर अथवा शीतल रात्रि को भी जीतती है।'
97 सूर्य।
98 जो महाशय सोमसौम्यां पाठ को ठीक समझते हैं, उन्हें भाषापद्य में इसप्रकार पाठान्तर करना चाहिए– ''तौहू निज दीपतितैं जीतत, शीतलशशि–रजनी को।''
99 'गुणप्रयोज्यः' और 'गुणप्रयोज्या' भी पाठ है।

स्वर्ग और अपवर्ग[१००] मार्ग की, बाट बतावनहारी।
परम धरम के तत्त्व कहन को, चतुर त्रिलोकमझारी।।
होय जगत की सब भाषन में, जो परिनत सुखदानी।
ऐसी विशद[१०१] अर्थ की जननी[१०२], हे जिनवर, तुव वानी।।३५।।

अन्वयार्थ— हे जिनदेव, (स्वर्गापवर्गममार्गविमार्गणेष्टः) स्वर्ग और मोक्ष जाने के मार्ग को अन्वेषण करने में इष्ट (आवश्यक) अथवा स्वर्ग—मोक्ष—मार्ग को शोधने वाले मुनियों को इष्ट तथा (त्रिलोक्याः) तीन लोक के (सद्धर्मतत्त्वकथनैकपटुः) समीचीन धर्म के तत्त्वों के कहने में एक मात्र चतुर और (विशदार्थसर्वभाषास्वभावपरिणामगुणैः) निर्मल जो अर्थ और उसके समस्त भाषाओं के परिणमनरूप जो गुण, उन गुणों से (प्रयोज्यः) जिसकी योजना होती है, ऐसी (ते) आपकी (दिव्यध्वनिः) दिव्यध्वनि (भवति) होती है।

भावार्थ— भगवान् की वाणी में यह अतिशय है कि सुननेवालों की सम्पूर्ण भाषाओं में निर्मल रूप से उसका परिणमन हो जाता है। अर्थात् भगवान् की वाणी जो सुनता है वही अपनी भाषा में उसे सरलता से समझ लेता है। (आठवाँ प्रातिहार्य)।।३५।।

उन्निद्रहेमनवपंकजपुञ्जकान्ती
पर्युल्लसन्नखमयूखशिखाभिरामौ।
पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र धत्तः
पद्मानि तत्र विबुधाः परिकल्पयन्ति।।३६।।

सुवरन—वरन खिले कमलन की, ललित कान्ति जो धारैं।
त्यों ही नख किरनन क चहुँघा, छटा अनूप उछारैं।।
अस तुव चरनन की डग जहँ जहँ, परत अहो जिनराई।
तहँ तहँ पंकजपुंज अनूपम, रचत देवगन आई।।३६।।

अन्वयार्थ— (जिनेन्द्र) हे जिनेन्द्र, (उन्निद्रहेमनवपंकजपुञ्जकान्ती) फूले हुए सुवर्ण के नवीन कमलसमूह के सदृश कान्ति धारण करने वाले और (पर्युल्लसन्नखमयूखशिखाभिरामौ) चारों ओर उछलती हुई नखों की किरणों के समूह के सुन्दर ऐसे (तव) आपके (पादौ) चरण (यत्र) जहाँ पर (पदानि) डग (धत्तः) रखते हैं, (तत्र) वहाँ पर (विबुधाः) देवगण (पद्मानि) कमलों को (परिकल्पयन्ति) परिकल्पित करते हैं, अर्थात् कमलों की रचना करते हैं।

भावार्थ— जहाँ—जहाँ भगवान् चरण रखते हैं वहाँ—वहाँ पर देवता कमलों की रचना करते जाते हैं।।३६।।

---

[100] मोक्ष।
[101] निर्मल।
[102] उत्पन्न करनेवाली।

इत्थं यथा तव विभूतिरभूज्जिनेन्द्र
धर्मोपदेशनविधौ न तथा परस्य।
यादृक्प्रभा दिनकृतः प्रहतान्धकारा
तादृक्कुतो ग्रहगणस्य विकाशिनोऽपि।।३७।।

इहि विधि वृषउपदेशसमय[१०३] तुव, समवसरन के माहीं।
भई विभूति अपूरव हे जिन, सो औरन के नाहीं।।
जैसी प्रभा देखियतु रवि में, तेजवन्त तमहारी[१०४]।
तैसी उडुगनमाहिं[१०५] कहाँ है, यद्यपि करत उजारी।।३७।।

अन्वयार्थ— (जिनेन्द्र) हे जिनेन्द्र, (धर्मोपदेशनविधौ) धर्मोपदेश के विधान में अर्थात् धर्म का उपदेश देते समय समवसरण में (इत्थं) पूर्वोक्त प्रकार से (तव) आपकी (विभूतिः) समृद्धि (यथा) जैसी (अभूत) हुई (तथा) वैसी (परस्य) हरिहरादि दूसरे देवों के (न) नहीं हुई। सो ठीक ही है। (दिनकृतः) सूर्य की (यादृक्) जैसी (प्रहतान्धकारा) अनधकार को नष्ट करनेवाली (प्रभा) प्रभा होती है, (तादृक्) वैसी प्रभा (विकाशिनः) प्रकाशमान (ग्रहगणस्य अपि) तारागणों की भी (कुतः) कहाँ से होवे?

भावार्थ— यद्यपि तारागण थोड़े बहुत चमकने वाले होते हैं, तो भी वे सूर्य के समान प्रकाशित नहीं हो सकते। इसी प्रकार यद्यपि हरिहरादिक देव हैं, तो भी आपकी समवसरण जैसी विभूति को वे धारण नहीं कर सकते।।३७।।

श्चयोतन्मदाविलविलोलकपोलमूल—
मत्तभ्रममद्भ्रमरनादविवृद्धकोपम्।
ऐरावताभमिभमुद्धतमापतन्तं[१०६]
दृष्ट्वा भयं भवति नो भवदाश्रितानाम्।।३८।।

मदजलमलिन विलोल[१०७] कपोलन, पै इत उत मड़राके।
कोप बढ़ायो जिहिको अलिगन, अतिशय शोर मचाके।।
ऐसो उद्धत ऐरावतसम, गज जो सनमुख धावै।
तौ हू तुव पदसेवक ताकों, देखि न नेकु डरावै।।३८।।

---

103 धर्मोपदेश के समय।
104 अंधकार को नाश करनेवाली।
105 तारागणों में।
106 'उत्कटम्' भी पाठ है।
107 अतिशय चंचल।

अन्वयार्थ— हे नाथ, (श्च्योतन्मदाविलविलोलकपोलमूलमत्तभ्रमद्भ्रमरनादविवृद्धकोपम्) झरते[108] हुए मद से जिसके मण्डस्थल मलीन तथा चंचल हो रहे हैं और उन पर उन्मत्त होकर भ्रमण करते हुए भौंरे अपने शब्दों से जिसका क्रोध बढ़ा रहे हैं, ऐसे (ऐरावताभम्) ऐरावत हाथी के समान आकार वाले तथा (उद्धतं) उद्धत अर्थात् अंकुशादि को नहीं मानने वाले और (आपतन्तं) ऊपर पड़ते हुए (इभम्) हाथी को (दृष्टा) देखकर (भवत् आश्रितानां) आपके आश्रय में रहनेवाले पुरुषों को (भयं) भय (नो) नहीं (भवति) होता है।

भावार्थ— अत्यन्त उच्छृंखल हाथी को देखकर भी आपके भक्तजन भयभीत नहीं होते हैं।।३८।।

भिन्नेभकुम्भगलदुज्ज्वलशोणिताक्त—
मुक्ताफलप्रकरभूषितभूमिभाग:।
बद्धक्रम: क्रमगतं हरिणाधिपोऽपि
नाक्रमति क्रमयुगाचलसंश्रितं ते

जो मदमत्त[109] गजन के उन्नत, कुम्भ विदारि नखनसों।
सिंगारत भुवि[110] रुधिरसुरञ्जित[111], सुन्दर सित मोतिनसों।।
भरी छलाँग हतनकहँ जिहिने, ऐसे खल मृगपति के।
पंजनि परे बचैं तव—पद—गिरि,—आश्रित जन शुभमति के।।३९।।

अन्वयार्थ— और हे नाथ, (भिन्नेभकुम्भगलदुज्ज्वलशोणिताक्तमुक्ताफलप्रकरभूषितभूमिभाग:) विदारे हुए हाथियों के मस्तकों से जो रक्त से भीगे हुए उज्ज्वल मोती[112] पड़ते हैं, उनके समूह से जिसने पृथ्वी के भाग शोभित कर दिये है, ऐसा तथा (बद्धक्रम:[113]) आक्रमण करने के लिए बाँधी है चौकड़ी अथवा छलाँग जिसने ऐसा (हरिणाधिप: अपि) सिंह भी (क्रमगतं) पंजे में पड़े हुए (ते) आपके (क्रमयुगाचलसंश्रितं) दोनों चरणरूपी पर्वतों का आश्रय लेने वाले मनुष्य पर (न आक्रामति) आक्रमण नहीं करता है।

भावार्थ— आपके चरणों का आश्रय लेने वाले भक्तजनों पर भयानक सिंह भी आक्रमण नहीं कर सकता है।।३९।।

---

108 मदोन्मत्त हाथी के कपोलों से मद झरता है। उसकी सुगन्धि से भौंरे चारों ओर से आकर झूमते हैं और गुंजार करते हैं।

109 मदोन्मत्त हाथी के कपोलों से मद झरता है। उसकी सुगन्धि से भौंरे चारों ओर से आकर झूमते हैं और गुंजार करते हैं।

110 पृथ्वी।

111 रक्त से भीगी हुई।

112 मदोन्मत्त हाथियें के मस्तकों में मोती उत्पन्न होते हैं, जिन्हें गजमुक्ता कहते है।

113 ''बद्धक्रम:'' का ''बन्धे हुए हैं पाँव जिसके'' यह भी तात्पर्य है। क्योंकि सिंह जो स्वभाव से ही क्रूर होता है, यदि बाँध दिया जावे, तो फिर उसके क्रोध का ठिकाना नहीं रहता है; परन्तु उस क्रोधावस्था में भी वह आपके शरणागतों का घात नहीं कर सकता है।

कल्पान्तकालपवनोद्धतवह्निकल्पं
दावानलं ज्वलितमुज्ज्वलमुत्स्फुलिंगम्[114]।
विश्वं जिघत्सुमिव सम्मुखमापतन्तं
त्वन्नामकीर्तनजलं शमयत्यशेषम्।।४०।।

प्रलय—पवन—प्रेरित—पावकसी, विस्तृत अधिक उतंगा।
प्रजुलित उज्ज्ल नभ में जिहि के, अगनित उड़त फुलिंगा।।
ऐसी प्रबल दवानल जो सब, जगत भस्म करि डारै।
सोहू तुव गुनगाननीरसों, शीतलता विसतारै।।४०।।

अन्वयार्थ— हे भगवान्, (कल्पान्तकालपवनोद्धतवह्निकल्पं) प्रलयकाल के पवन से उत्तेजित हुई अग्नि के सदृश तथा (उत्स्फुलिंगम्) उड़ रहे हैं, ऊपर को फुलिंगे जिससे ऐसी (ज्वलितम्) जलती हुई (उज्ज्वलम्) उज्ज्वल और (अशेषं) सम्पूर्ण (विश्वं) संसार को (जिघत्सुम् इव) नाश करने की मानो जिसकी इच्छा ही है, ऐसी (सम्मुखं) सामने (आपतन्तं) आती हुई (दावानलं) दावाग्नि को (त्वन्नामकीर्तनजलं) आपके नाम का कीर्तनरूपी जल (शमयति) शान्त करता है।

भावार्थ— आपके गुणों का गान करने से बड़ी भारी दावाग्नि भी भक्तजनों का कुछ बिगाड़ नहीं कर सकती।।४०।।

रक्तेक्षणं समदकोकिलकण्ठनीलं
क्रोधोद्धतं फणिनमुत्फणमापतन्तम्।
आक्रामति क्रमयुगेन निरस्तशंक—
स्तवन्नामनागदमनी हृदि यस्य पुंसः।।४१।।

कारो समद[115]—पिक—कंठसम, चख[116] जासु अरुन भयावने।
ऊँचौ करैं फन फुंकरत, आवै चलो जो सामने।।
तिहि साँप के सिर पाँव देकरि, चलै सो अति निडर हो।
तुव नामरूपी नागदमनी, धरत जो हिय में अहो।।४१।।

---

114 यद्यपि अनेक प्राचीन पुस्तकों में ''उत्फुलिंग'' पाठ मिलता है; परन्तु कोषादिकों से सकारयुक्त फुलिंग शब्द सिद्ध होता है। अतएव ''उत्स्फुलिंग'' ही पढ़ना ठीक है।
115 मतवाली कोयल के कंठ जैसा।
116 नेत्र।

अन्वयार्थ— हे जगन्नाथ, (यस्य) जिस (पुंसः) पुरुष के (हृदि) हृदय में (त्वन्नामनागदमनी) तुम्हारे नाम की नागदमनी जड़ी है, वह पुरुष (क्रमयुगेन) अपने पैरों से (रक्तेक्षणं) लाल नेत्रवाले, (समदकोकिलकण्ठनीलं) मदोन्मत्त कोयल के कंठसमान काले, (क्रोधोद्धतं) क्रोध से उद्धत हुए और (उत्फणं) उठाया है ऊपर को फण जिसने ऐसे (आपतन्तं) डसने के लिए झपटते हुए (फणिनं) साँप को (निरस्तशंकः) शंकारहित अर्थात् निडर होकर (आक्रमति) उल्लंघन करता है, अर्थात् पाँव देकर उसके ऊपर से चला जाता है।

भावार्थ— आपका नाम स्मरण करने वाले भक्तजनों को भयंकर साँपों का भी कुछ भय नहीं होता है।।४१।।

वल्गत्तुरंगजगर्जितभीमनाद—
माजौ बलं बलवतामपि भूपतीनाम्।
उद्यद्दिवाकरमयूखशिखापविद्धं
त्वत्कीर्त्तनात्तम इवाशु भिदामुपैति।।४२।।

हय गय[117] हजारों लरत करत, अपार नाद भयावने।
अस विकट सैन वली नृपनि की, झुक रही हो सामने।।
सो तुरत तुव गुनगानसों, संग्राम में नशि जात हैं
ज्यों उदित दिनपति के करनसों[118], तमसमूह विलात[119] है।।४२।।

अन्वयार्थ— हे जिनेश्वर, (आजौ) संग्राम में (त्वत्कीर्त्तनात्) आपके नाम का कीर्तन करने से (बलवताम्) बलवान् (भूपतीनाम्) राजाओं का (वल्गतुरंगगजगर्जितभीमनादम्) युद्ध करते हुए घोड़ों और हाथियों की गर्जना से जिसमें भयानक शब्द हो रहे हैं, ऐसा (बलम् अपि) सैन्य भी (उद्यद्दिवाकरमयूखशिखापविद्धं) उदय को प्राप्त हुए सूर्य की किरणों के अग्रभाग से नष्ट हुए (तमः इव) अंधकार के समान (आशु) शीघ्र जी (भिदाम्) भिन्नता को नाश को (उपैति) प्राप्त होता है।

भावार्थ— जैसे सूर्य के उदय होने से अन्धकार नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार आपके गुणों का गान करने से राजाओं की बड़ी—बड़ी सेनाएँ भी नष्ट हो जाती हैं।।४२।।

कुन्ताग्रभिन्नगजशोणितवारिवाह—
वेगावतारतरणातुरयोघभीमे।
युद्धे जयं विजितदुर्ज्जयजेयपक्षा—
स्तवत्पादपंकजवनाश्रयिणो लभन्ते।।४३।।

---

117 गज—हाथी।
118 किरणों से।
119 विलीन हो जाता है।— नष्ट हो जाता है।

बरछीनसों छिदि गजन के सिर, जहँ रुधिरधारा बहैं।
परि वेग में तिन के तरनको, वीर बहु आतुर रहैं।।
ऐसी विकट रनभूमि में, दुर्जय अरिन पै जलय लहै।
तुव चरनपंकजवन मनोहर, जो सदा सेवत रहै।।४३।।

अन्वयार्थ— हे देव, (कुन्ताग्रभिन्नगजशोणितवारिवाहवेगावतारतरणातुरयोधभीमे) बरछी की नोंकों से छिन्न–भिन्न हुए हाथियों के रक्तरूपी जलप्रवाह के वेग में पड़े हुए और उसे तैरने के लिए आतुर हुए योद्धाओं से जो भयानक हो रहा है, ऐसे (युद्धे) युद्ध में (त्वत्पादपंकजवनाश्रयिण:) आपके चरणकमलरूपी वन का आश्रय लेने वाले पुरुष (विजितदुर्जयजेयपक्षा:) नहीं जीता जा सके, ऐसे भी शत्रुपक्ष को जीतते हुए (जयं) विजय को (लभन्ते) प्राप्त करते हैं।

भावार्थ— आपके चरणकमलों की सेवा करने वाले भक्तजन बड़ेभारी युद्ध में भी शत्रु को जीतकर विजयी होते हैं।

अम्भोनिधौ क्षुभितभीषणनक्रचक्र
पाठीनपीठभयदोल्वणवाडवाग्नौ।
रंगत्तरंगशिखरस्थितयानपात्रा
स्त्रासं विहाय भवत: स्मरणाद्व्रजन्ति।।४४।।

जो ह्वै रह्यो भीषण मगरमच्छादिकनसों, क्षुभित है।
विकराल बड़वानल भयंकर, सदा जिहिमें जलते है।।
अस जलधि की लहरीन में, जिनकी जहाजैं डगमगैं।
तुव नाम सुमरत है जगतपति, ते तुरत तीरै लगैं।।४४।।

अन्वयार्थ— हे जगदाधार, (भवत:) आपके (स्मरणात्) स्मरण करने से (क्षुभितभीषणनक्रचक्रपाठीनपीठभयदोल्बणवाडवाग्नौ) भीषण नक्र (मगर), चक्र (घड़ियाल), पाठीन[१२०] और पीठों[१२१] से तथा भयंकर विकराल वडवाग्नि करके क्षुभित (अम्भोनिधौ) समुद्र में (रङ्गत्तरङ्गशिखरस्थितयानपात्रा:) उछलती हुई तरंगों के शिखरों पर जिनके जहाज पड़े हुए हैं, ऐसे पुरुष (त्रासं विहाय[१२२]) आकस्मिक भय के बिना (व्रजन्ति) चले जाते हैं, अर्थात् पार हो जाते हैं।

भावार्थ— आपका नाम स्मरण करने से भयानक समुद्र में पड़े हुए जहाजवाले भी पार हो जाते हैं।।४४।।

---

120 एक जाति की मछलियाँ।
121 एक जाति की मछलियाँ।
122 'त्रासस्त्वाकस्मिकं भयं' इति हेम:।

उद्भूतभीषणजलोदरभारभुग्नाः
शोच्यां दशामुनगतश्च्युतजीविताशाः।
त्वत्पादंकजरजोऽमृतदिग्धदेहाः
मर्त्या[१२३] भवन्ति मकरध्वजतूल्यरूपाः।।४५।।

भीषन जलोदर[१२४] भारसों, कटि बंक जिनकी है गई।
अति शोचनीय दशा भई, आशा जियन की तज दई।।
ते मनुज तुव पद–कंज–रज, रूपी सुधा–अभिरम से।
निज तन परसि होवहिं अनूप, सुरूपवारे काम से।।४५।।

अन्वयार्थ– हे जिनराज, (उद्भूतभीषणजलोदरभारभुग्नाः) उत्पन्न हुए भयानक जलोदर रोग के भार से जो कुबड़े हो गए हैं और (शोच्यां दशां) शोचनीय अवस्था को (उपगताः) प्राप्त होकर (च्युतजीविताशाः) जीने की आशा छोड़ बैठे हैं ऐसे (मर्त्याः) मनुष्य (त्वत्पादपंकजरजोऽमृतदिग्धदेहाः) तुम्हारे चरणकमल के रजरूप अमृत से अपनी देह लिप्त करके, (मकरध्वजतुल्यरूपाः) कामदेव के समान सुन्दर रूपवाले (भवन्ति) हो जाते हैं।

भावार्थ– जैसे अमृत के लेप से मनुष्य नीरोग और सुस्वरूप हो जाते हैं, उसी प्रकार आपके चरणकमल के रजरूपी अमृत के लेप से (चरणों की सेवा से) जलोदर आदि रोगों से पीड़ित पुरुष भी कामदेव सरीखे रूपवान हो जाते हैं।।४५।।

आपादकण्ठमुरुशृंखलवेष्टितांगा
गाढं बृहन्निगडकोटिनिघृष्टजंघाः।
त्वन्नाममन्त्रमनिशं मनुजाः स्मरन्तः
सद्यः[१२५] स्वयं विगतबन्धभया भवन्ति।।४६।।

गुरु[१२६] संकलनसों चरनतैं ले, कण्ठलगि जो कसि रहे।
गाढ़ी बड़ीनसों, जिनके जघनतट घसि रहे।।
ते पुरुष प्रभु, तुम नामरूपी, मन्त्र को जपिकै सदा।
तत्काल ही स्वयमेव बन्धन, भयरहित होवहिं मुदा।।४६।।

---

123 'सद्यो' भी पाठ है।
124 एक रोगविशेष होता है, जिससे पेट बड़ा हो जाता है।
125 'नाथ' भी पाठ है।
126 भारी।

अन्वयार्थ— (अनिशं आपादकण्ठम्—उरुशृंखलवेष्टिताङ्गा:) जिनके शरीर पाव से लेकर बले तक बड़ी—बड़ी संकले से निरन्तर जकड़े हुए है और (गाढं बृहन्निगडकोटिनिघृष्टजंङ्घा:) बड़ी—बड़ी बेड़ियों के किनारों से जिनकी जंघाएँ अत्यन्त छिल गई हैं ऐसे (मनुजा:) मनुष्य (त्वन्नाममन्त्रम) तुम्हारे नामरूपी मन्त्र को (स्मरन्त:) स्मरण करने से (सद्य:) तत्काल ही (स्वयं) आपसे आप (विगतबन्धभया:) बन्धन के भय से सर्वथा रहित (भवन्ति) होते हैं।

भावार्थ— आपका स्मरण करने से कठिन कैद में फँसे हुए मनुष्य भी शीघ्र छूट जाते हैं।।४६।।

मत्तद्विपेन्द्रमृगराजदानलाहि—
संग्रामवारिधिमहोदरबन्धनोत्थम्।
तस्याशु नाशमुपयाति भयं भियेव
यस्तावक[१२७] स्तवमिमं मतिमानधीते।।४७।।

मदमत्त गज मृगराज दावानल समुद्र अपार को।
संग्राम सांप तथा जलोदर, कठिन कारागार को—।।
भय, स्वयं भयकरि तुरत ताको, भागि जावै नेमसों।
यह आपकी विरदावली, बांचै सुधी जो प्रेमसों।।४७।।

अन्वयार्थ— (यं:) जो (मतिमान) बुद्धिमान (इमं) इस (तावकं) तुम्हारे (स्तवं) स्तोत्र को (अधीते) अध्ययन करता है, पढ़ता है (तस्य) उसके (मत्तीद्विपेन्द्रमृगराजदवानलाहिसङ्ग्रामवारिधिमहोदरबन्धनोत्थम) मत्त हाथी, सिंह, अग्नि, सर्प, संग्राम, समुद्र, महोदर रोग और बन्धन, इन आठ कारणों से उत्पन्न हुआ (भयं) भय (भिया इव) डरकर ही मानों (आशु) शीघ्र ही (नाशं) नाश को (उपयाति) प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ— ऊपर कहे हुए आठ तथा इनके सदृश और भी भय उस पुरुष से डर कर शीघ्र नष्ट हो जाते हैं, जो पुरुष इस स्तोत्र का निरन्तर पाठ किया करता है।।४७।।

स्तोत्रस्रजं तंव जिनेन्द्रगुणैर्निबद्धां
भक्त्या मया रुचिरवर्णविचित्रपुष्पाम्[१२८]।
धत्ते जनो य इह कण्ठगतामजस्रं
तं मानतुंगमवशा[१२९] समुपैति लक्ष्मी:।।४८।।

---

127 'तेऽनिशं' भी पाठ है।

128 'विविधवर्णविचित्रपुष्पाम्' भी पाठ है।

129 'मानतुंगमिवसा' और 'मानतुंगविधिना' ऐसा भी पाठ है, जिसका अर्थ 'मानतुंग के समान वह लक्ष्मी' और 'मानतुंग की तरह' होता है।

हौं[१३०] गूंथि लायौ विरदमाला, नाथ, तुव गुनगननसों।
बहु भक्तिपूरित रुचिर वरन, विचित्र सुन्दर सुमनसों
यासों सदा सौभाग्यजुत, 'प्रेमी' जो कण्ठ सिँगारि है।
तिहि 'मानतुंग' सुपुरुष को, कमला विवश उर धारि है।।

अन्वयार्थ– (जिनेन्द्र) हे जिनेन्द्र (इह) इस संसार में (मया) मेरे द्वारा (भक्त्या[१३१]) भक्तिपूर्वक (गुणै:[१३२]) आपके अनन्तज्ञानादि गुणों करके (निबद्धां) गूँथी हुई, (रुचिरवर्णविचित्रपुष्पाम्[१३३]) मनोज्ञ अकारादि वर्णों के यमक–श्लेष–अनुप्रासादिरूप विचित्र फूलोंवाली और (कण्ठगतां) कण्ठ में पड़ी हुई (तब) तुम्हारी इस (स्तोत्रस्रजं) स्तोत्ररूपी माला को (य:) जो पुरुष (अजस्रं) सदैव (धत्ते) धारण करता है (तं) उस (मानतुंगं[१३४]) मान[१३५] से ऊँचे अर्थात् आदरणीय पुरुष को (लक्ष्मी:) राज्य, स्वर्ग, मोक्ष और सत्काव्यरूप लक्ष्मी (अवशा) विवश होकर (समुपैति) प्राप्त होती है।

भावार्थ– जैसे पुष्पमाला के धारण करने से मनुष्य को शोभा (लक्ष्मी) प्राप्त होती है, उसी प्रकार इस स्तोत्ररूपी माला के पहनने से राज्य, स्वर्गादि और परम्परा से मोक्षरूप लक्ष्मी प्राप्त होती है। 'अवशा' पद देने का अभिप्राय यह है कि, उस लक्ष्मी को विवश होकर इस स्तोत्र के पठन अध्ययन करनेवाले पुरुष की सेवा में आना ही पड़ता है।।४८।।

इति श्री आदिनाथस्तोत्रं सम्पूर्णम्।

भाषाकार की प्रार्थना

दोहा

मानतुंग अति तुंग कवि, अरु तिन भक्ति उतंग।
अमरगिरा पुनि अति गहन, गूढ़ पदार्थ–प्रसंग।।१।।
तौभी बिन प्रतिभा तथा, बिन अभ्यास कवित्त।
कीन्हों यह श्रम भक्तिवश, 'प्रेमी' करि इकचित्त।।२।।
यामैं जो कछु न्यूवता, होवहि मूलविरुद्ध।
सो सुधारि पढ़ि हैं सुजन, करि निजभाव विशुद्ध।।३।।

विषापहार

---

130 मूल की नाई इस पद्य का भी दोनों पक्षों में अर्थ घटित होता है।
131 पुष्पमाला के पक्ष में भक्ति का अर्थ 'विचित्ररचनापूर्वक' होता है।
132 पक्ष में– गुण अर्थात् सूतों करके।
133 पक्ष में– सुन्दर रंगरंग के विचित्र फूलोंवाली।
134 पक्ष में स्तोत्रकर्ता श्रीमानतुंगसूरि को।
135 मान अर्थात् विवके करके तुंग अर्थात् ऊँचे, ऐसा भी मानतुंग का अर्थ होता है।

(महाकवि धनंजय के संस्कृत स्तोत्र का पद्यानुवाद)

अपने में ही स्थिर रहता है, और सर्वगत कहलाता है।
सर्वसंगत्यागी होकर भी, सब व्यापारों का ज्ञाता।।
कालमान से वृद्ध बहुत है, फिर भी अजर अमर स्वयमेव।
विपदाओं से सदा बचावे, वह पुराण पुरुषोत्तम देव।।१।।
जिसने परकल्पनातीत, युगभार अकेले ही झेला।
जिसके सुगुन–गान मुनिजन भी, कर नहिं सके एक बेला।।
उसी वृषभ की विरद यह, अल्पबुद्धि जन रचता है।
जहाँ न जाता भानु वहाँ भी, दीप उजेला करता है।।२।।
शक्र सरीखे शक्तिवान ने, तजा गर्व गुण गाने का।
किन्तु मैं न साहस छोड़ूँगा, विरदावली बनाने का।।
अपने अल्पज्ञान से ही मैं, बहुत विषय प्रगटाऊँगा।
इस छोटे वातायन से ही, सारा नगर दिखाऊँगा।।३।।
तुम सब–दर्शी देव, किन्तु नहिं तुम्हें देख सकता कोई।
तुम सब के ही ज्ञाता, पर नहिं तुम्हें देख सकता कोई।
'कितने हो' 'कैसे हो' यों कुछ कहा नहीं प्रभु जाता है।
इससे निज अशक्ति बतलाना, यही तुम्हारि प्रशंसा है।।४।।
बालक सम अपने दोषों से, पीड़ित जो अति रहते हैं।
उन सबको हे नाथ आप, भवतापरहित नित करते हैं।।
यों अपने हित और अहित का, जो न ध्यान रखनेवाले।
उन सब को तुम वालवैद्य हो, स्वास्थ्यदान करनेवाले।।५।।
देने–लेने का न काम कुछ, व्यर्थ बहाने करता है।
आज कल्य की आशा देकर, दिनपति दिवस बिताता है।।
पर हे अच्युत! जिनपति! यों तुम, पल भर भी नहीं खोते हो।
शरणागत नत भक्तजनों को, त्वरित इष्ट फलं देते हो।।६।।
भक्तिभाव से सुमुख आपके रहनेवाले सुख पाते।
और विमुख जन दुख पाते हैं, रागद्वेष नहिं तुम लाते।।
अमल सुदुतिमय चारु आरसी, सदा एकसी रहती ज्यों।
उसमें सुमुख विमुख दोनों ही, देखें छाया ज्यों की त्यों।।७।।
गहराई निधि की, उँचाई गिरि की, नभ थल की चौड़ाई।
वहीं वहीं तक जहाँ जहाँ तक, निधि आदिक दें दिखलाई।।
किन्तु नाथ! तेरी अगाधता और तुंगतां, विस्तरता।
व्याप रही है तीन भुवन के, बाहिर भी हे जगत्पिता।।८।।
अनवस्था को परमतत्त्व, तुमने अपने मत में गाया।
किन्तु बड़ा अचरज यह भगवन्, पुनरागमन न बतलाया।।
तथा आश करके अदृष्ट की, तुम सुदृष्ट फल को खोते।
यों तव चरित दिखें उलटं से किन्तु घटित सब ही होते।।९।।

काम जलाया स्वामी तुमने, इसीलिए यही उसकी धूल।
शंभु रमाई निज शरीर में, होय अधीर मोह में भूल।।
विष्णु परिग्रहयुत सोते हैं, लूटे उन्हें इसी से काम।
तुम निर्ग्रन्थ जागते रहते, तुम से छीने क्या धन धाम?।१०।।
और देव हों चाहे जैसे, पापसहित अथवा निष्पाप।
उनके दोष दिखाने से नहिं, गुणी कहे जाते हैं आप।।
जैसे स्वयं सरितपति की अति, महिमा महा दिखाती है।
जलाशयों के लघु कहन से, वह न बड़ाई पाती है।।११।।
कर्मस्थिति को जीव निरंतर, विविध थलों में पहुँचाता।
और कर्म इन जगजीवों को, सब गतियों में ले जाता।।
यों नौका नाविक के जैसे, इस गहरे भवसागर में।
जीव कर्म के नेता हो प्रभु, पार करो कर कृपा हमें।।१२।।
गुण के लिए लोग करते हैं, अस्थि धारणादिक बहु दोष।
धर्महेतु पापों में पगते, पशुधादि को कह निर्दोष।।
सुखहित निज तन को देते हैं, गिरिपातादि दु:ख में ठेल।
यों जो तब मतबाह्य मूढ़ के, बालू पेल निकालें तेल।।१३।।
विषनाशक मणिमन्त्र रसायन, औषध के अन्वेषण में।
देखो, तो ये भोले प्राणी, फिरें भटकते वन–वन में।।
समझ तुम्हें ही मणिमन्त्रादिक, स्मरण न करते सुखदायी।
क्योंकि तुम्हारे ही हैं ये सब, नाम दूसरे पर्यायी।।१४।।
अपने मन में हे जिनेश तुम, नहीं किसी को लाते हो।
पर जिस किसी भाग्यवाले के, मन में तुम आ जाते हो।।
वह निज कर में कर लेता है, सकल जगत को निश्चय से।
तब मन से बाहिर रहकर भी, अचरज है रहता सुख से।।१५।।
त्रिकालज्ञ त्रिजगत के स्वामी, ऐसा कहने से जिनदेव।
ज्ञान और स्वामीपन की, सीमा निश्चित होती स्वयमेव।।
यदि इससे भी ज्यादा होती, काल जगत की गिनती और।
तो उसको भी व्यापित करते, तब दोनों गुण ये सिरमौर।।१६।।
सुरपति सेवा करके प्रभु की, बीज स्वसुख के बोता है।
हे अगम्य अज्ञेय न इससे, तुम्हें लाभ कुछ होता है।।
जैसे छत्र सूर्य के सम्मुख, करने से दयालु जिनदेव।
करनेवाले ही को होता, सुखकर आतपहर स्वयमेव।
कहाँ तुम्हारी वीतरागता, कहाँ सौख्यकारक उपदेश।
हो भी तो कैसे बन सकता, इन्द्रियसुखविरुद्ध आदेश?।।
और जगत की प्रियता भी तब, सम्भव कैसे हो सकती?
अचरज, यह विरुद्ध गुणमाला, तुम में कैसे रह सकती?।।१८।।
तुम समान अति तुंग किन्तु निधनों से, जो मिलता स्वयमेव।

धनद आदि धनिकों से वह फल, कभी नहीं मिल सकता देव।।
जलविहीन ऊँचे गिरिवर से, नाना नदी निकलती हैं।
किन्तु विपुल जल भरे जलधि से, नहीं एक भी झरती है।।१९।।
करो जगतजन जिनसेवा, यों समझाने को सुरपति ने।
दंड विनय से लिया इस लिए, प्रातिहार्य पाया उसने।।
किन्तु तुम्हारे प्रातिहार्य वसु–विधि हैं सो आये कैसे?
हे जिनेन्द्र! यदि कर्मयोग से, तो वे कर्म हुए कैसे?।।२०।।
धनिकों को तो सभी निधन, लखते हैं, भला समझते हैं।
पर निधनों को तुम बिन कोई, श्रीधर भला न कहते हैं।।
जैसे अंधकारवासी उजियालेवाले को देखे।
वैसे उजियालावाला नर, नहिं तमवासी को देखे।।२१।।
निज शरीर की वृद्धि श्वास–उछ्वास और पलकें झपना।
ये प्रत्यक्ष चिह्न हैं जिसमें, ऐसा भी अनुभव अपना।।
कर न सकें तो तुच्छबुद्धि जन, वे क्या जिनवर! तेरा रूप।
इन्द्रियगोचर कर सकते हैं, सकल ज्ञेयमय ज्ञानस्वरूप ?।।२२।।
'उनके पिता' 'पुत्र हैं उनके,' कर प्रकाश यों कुल की बात।
नाथ! आपकी गुणगाथा जो, गाते हैं रट–रट दिनरात।।
चारु चित्रहर चामीकर को, सचमुच ही वे बिना विचार।
उपल–शकल से उपजा कहकर, अपने कर से देते डार।२३।।
तीन लोक में ढोल बजाकर, किया मोह ने यह आदेश।
हुए पराजित सभी सुरासुर, मिला विजय यह उसे विशेष।।
किन्तु नाथ! वह निबल आपसे, कर सकता था कहाँ विरोध।
वैर ठानना बलवानों से, खो देता है खुद को खोद।।२४।।
तुमने केवल एक मुक्ति का, मार्ग निहारा सुखकारी।
पर औरों ने चार गती के, गहन पंथ देखे भारी।।
इससे सब कुछ देखा हमने, यह अभिमान ठान करके।
हे जिनवर! नहिं कभी देखना, अपनी भुजा तान करके।।२५।।
रवि को राहु रोकता है, पावन को बारि बुझाता है।
प्रलयकाल का प्रबल पवन, सरिता–पति को विचलाता है।।
ऐसे ही भवभोगों को, उनका वियोग हरता स्वयमेव।
तुम्हें छोड़ सबकी बढ़ती पर, घातक लगे हुए यों देव।।२६।।
बिन जाने भी तुम्हें, नमन करने से जो फल फलता है।
वह औरों को देव मान, नमने से भी नहिं मिलता है।।
ज्यों मरकत को काच मानकर, करगत करनेवाला नर।
समझ सुमणि जो काच गहे, उससके सम रहे न खाली कर।।२७।।
विशद मनोज्ञ बोलनेवाले, पण्डित जो कहलाते हैं।
क्रोधादिक से जले हुए को, वे यों 'देव' बताते हैं।।

जैसे 'बुझे हुए हैं दीपक को, 'बढ़ा हुआ' सब कहते हैं।
और कपाल विघट जाने को, 'मंगल हुआ' समझते हैं।।२८।।
नयप्रमाणयुत अतिहितकारी, वचन आपके कहे हुए।
सुन कर श्रोताजन तत्त्वों के, परिशीलन में पगे हुए।।
वक्ता का निर्दोषपना नहि, जानेंगे क्यों हे गुणमाल।
ज्वरविमुक्त जाना जाता है, स्वरपर से सहज हि तत्काल।।२९।।
यद्यपि जग के किसी विषय में, अभिलाषा तब रही नहीं।
तौ भी विमल वाणि तब खिरती, यदा कदाचित् कहीं—कहीं।।
ऐसा ही कुछ है नियोग यी, जैसे पूर्णचन्द्र जिनदेव!
ज्वार बढ़ाने को न उगता, किन्तु उदित होता स्वयमेव ।।३०।।
हे प्रभु तेरे गुण प्रसिद्ध हैं, परमोत्तम हैं गहरे हैं।
बहु प्रकार हैं, पाररहित हैं, निज स्वभाव में ठहरे हैं।।
स्तुति करते—करते यों देखा, छोर गुणों का आखिर में।
इनमें जो नहिं कहा, रहा वह, और कौन गुण जाहिर में।।३१।।
किन्तु न केवल स्तुति करने से, मिलता है निज अभिमत फल।
इससे प्रभु को भक्तिभाव से, भजता हूँ प्रति दिन प्रति पल।।
स्मृति करके सुमरन करता हूँ, पुनि विनम्र हो नमता हूँ।
किसी यत्न से भी, अभीष्ट साधन की इच्छा रखता हूँ।।३२।।
इसीलिए शाश्वत तेजोमय, शक्ति अनन्तवन्त अभिराम ।
पुण्य पाप बिन, परम पुण्य के कारण, परमोत्तम गुणधाम।।
वन्दनीय पर जो न और की, करैं वन्दना कभी मुनीश।।
ऐसे त्रिभुवन नगरनाथ को, करता हूँ प्रणाम धर सीस।।३३।।
जो नहिं स्वयं शब्द रस सपरस, अथवा रूप गंध कुछ भी।
पर इन सब विषयों के ज्ञाता, जिन्हें केवली कहें सभी।।
सब पदार्थ जो जाने, कोई पर न जान सकता जिनको।
स्मरण में न आ सकते हैं जो, करता हूँ सुमरन उनकी।।३४।।
लंघ्य न औरों के मन से भी, और गूढ़ गहरे अतिशय।
धनविहीन न जो स्वयं किन्तु, जिनका करते धनवान विनय।।
जो इस जग के पार गये, पर, पाया जाय न जिनका पार।
ऐसे जिनपतिके चरण की, लेता हूँ मैं शरण उदार।।३५।।
मेरु बड़ा—सा पत्थर पहले, फिर छोटा—सा शैलस्वरूप
और अन्त में हुआ न कुलगिरि, किन्तु सदा से उन्नत रूप।।
इसी तरह जो वर्धमान है, किन्तु न क्रम से हुआ उदार।
सजोन्नत उस त्रिभुवनगुरु को, नमस्कार है बारम्बार।।३६।।
स्वयं प्रकाशमान जिस प्रभु को, रात दिवस नहिं रोक सकें।
लाघव गौरव भी नहिं जिसको, बाधक होकर टोक सकें।।
एक रूप जो रहे निरन्तर, काल—कला से सदा अतीत।

भक्ति—भार से झुककर उसकी, करूँ वन्दना परम पुनीत।।३७।।
इसप्रकार गुणकीर्तन करके, दीन भाव से हे भगवान्।
वर न माँगता हूँ मैं कुछ भी, तुम्हें वीतरागी वर जान।।
वृक्ष तले जो जाता है, उस पर छाया होती स्वयमेव।
छाँह याचना करने से फिर, लाभ कौन सा है जिनदेव?।।३८।।
यदि देने की इच्छा ही हो, या इसका कुछ आग्रह हो।
तो निज चरनकमलरत निर्मल, बुद्धि दीजिए नाथ अहो।।
अथवा कृपा करोगे ही प्रभु, शंका इसमें जरा नहीं।
अपने प्रिय सेवक पर करते, कौन सुधी जन दया नहीं?।।३९।।
यथा शक्ति थोड़ी सी भी, की हुई भक्ति श्री जिनवर की।
भक्तजनों को मनाचाही, सामग्री देती जगभर की।।
इससे गूँथी गई स्तवन में, यह विशेषता से रुचिकर।
'प्रेमी' देगी सुख औ यश को तथा 'धनंजय' को शुचितर।।४०।।